www.samajdharmevamdarshan.org.in *ISSN 0974 – 9764*

अभिनिर्णीत

समाज धर्म एवं दर्शन

संयुक्तांक

वर्ष 40-43, अंक 1-12
अप्रैल 2022 मार्च 2025
वैशाख (संवत् 2078) - चैत्र (संवत् 2081)

सम्पादक
जटाशङ्कर

सह-सम्पादक
ऋषि कान्त पाण्डेय

प्रबन्ध सम्पादक मण्डल
डॉ0 त्रिविक्रम तिवारी, डॉ0 क्षमा तिवारी,
डॉ0 नीरज कुमार पाण्डेय, डॉ0 प्रभाकर पाण्डेय

श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान
117सी, टैगोर टाउन, इलाहाबाद-211002

लेख सूची

		पृष्ठ संख्या
संगति		iii-iv
स्फुट विचार		v-xi
1.	गाँधी दर्शन का आधार अद्वैत दृष्टि: एक विमर्श -प्रो. ऋषि कान्त पाण्डेय	1-14
2.	प्रामाण्यवादी विमर्श और अद्वैत वेदांत - डॉ. अमित कुमार मिश्र	15-28
3.	भारतीय दर्शन में प्रत्ययवाद की गत्यात्मक दृष्टि - डॉ श्रुति शर्मा एवं प्रो. ऋषिकांत पाण्डेय	29-41
4.	भारतीय ज्ञान परम्परा की अवधारणा एवं महत्त्व - डॉ. ऋषिका वर्मा	42-49
5.	सामाजिक दायित्व की जागृति - डॉ. रंजना शर्मा	50-55
6.	धार्मिक भाषा की समस्या के सन्दर्भ में आई एम क्रौम्बी की दृष्टांत कथा एवं साम्यानुमान पर आधारित युक्ति - डॉ. ज्योति पाण्डेय एवं प्रो. ऋषि कांत पाण्डेय	56-62
7.	नाथपंथ : दार्शनिक विमर्श - डॉ. प्रभाकर पाण्डेय	63-67
8.	प्रो. श्याम किशोर सेठ का दार्शनिक योगदान - प्रो. नीलिमा मिश्र	68-72
9.	वैदिक अध्यात्मवाद, भौतिकी एवं समग्र दृष्टि - डॉ. नीरज कुमार पाण्डेय	73-77
10.	मानव व्यक्तित्व निर्माण में वैदिक संस्कार की भूमिका : एक विमर्श –डॉ. सुनील कुमार शुक्ला	78-93
11.	डिजिटल एडिक्शन: एक बौद्ध दृष्टिकोण - सुमन बंसल	94-109
12.	विशिष्टाद्वैत दर्शन की ज्ञानमीमांसीय समीक्षा : प्रतितन्त्रों के संदर्भ में - डॉ. अनुराग पाण्डेय	110-123
13.	जनसंख्या भूगोल में जनांकिकीय की अवधारणा : एक विमर्श - आशीष कुमार शुक्ला	124-131
14.	कुम्भ मेला प्रयागराज 2025 के अपशिष्ट प्रबन्धन में सरकार एवं नगर निगम की भूमिका - अनुग्रह पाठक एवं डॉ. एस. के. भारती	132-135
15.	आचाराङ्ग सूत्र : दार्शनिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक महत्त्व - उज्जवल डागा एवं प्रो. सामणी संगीत प्रज्ञा	136-148
16.	रिपोर्ट	149-150

संगति

समाज धर्म एवं दर्शन का विगत अंक वर्ष-39 अपैल 2021 से मार्च 2022 का प्रकाशन अनेक कारणों से विलम्ब से हुआ था। इसके बाद के वर्ष प्रकाशन की दृष्टि से शून्य वर्ष रहे। जब इसके कारण पर विचार करता हूँ तो प्रमुख कारण के रूप में हमारी प्रकाशन टीम का प्रमाद दिखाई पड़ता है जिसका नेतृत्व मैं स्वयं कर रहा हूँ। व्यक्ति की ही तरह संस्थाओं की भी कुण्डली होती है। विगत कुछ महीनों में मेरे कुछ युवा साथी उत्साहपूर्वक इस कार्य को निरन्तरता प्रदान करने के संकल्प से मिले और गति का पहिया फिर चल पड़ा है। विश्वास है कि यह पहिया चलता रहेगा। इसी प्रकार का विश्वास भवभूति ने व्यक्त किया था जब उन्होंने कहा- **'उत्पस्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा, कालोऽयं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी'**। ऐसे विश्वास ही सृजनशीलता को आधार प्रदान करते हैं।

प्रस्तुत संयुक्तांक तीन वर्षों की रिक्तता को भरने के लिए है। भावी अंकों को यथासमय प्रकाशित करने के निमित्त हमारी टीम प्रतिबद्ध है। लेखकों एवं सुधीजनों का सहयोग अपेक्षित है।

वैश्विक परिदृश्य पर ध्यान जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानों परिवर्तन की आँधी चल रही हों। यह गति तीव्र से तीव्रतर होती जा रही है। समाज के घटकों पर ध्यान देने पर परिवर्तन की गति का अनुमान लगाया जा सकता है। शिक्षा एक प्रमुख घटक है। इस क्षेत्र में हो रहे परिवर्तनों को किसी पैमाने पर मापने में कठिनाई होती है। इतना ही समझ में आता है, जैसे सब कुछ आर्थिक प्रगति तक सीमित हो गया है। इसी तरह अन्य घटक धर्म, संस्कृति, परिवार, विवाह इत्यादि आर्थिक व्यापार के अंग जैसे दिखते हैं। धर्म पर्यटन का रूप ले रहा है, संस्कृति आयातित दिखती है। परिवार संकीर्ण स्वार्थ के वश में छटपटा रहा है, विवाह संस्कार के बजाय या तो अपव्यय के रूप में दिखता है या फिर उच्छृंखल सहवास बन जाता है। तकनीकी और संचार का विकास अनेक सुविधायें रच रहा है, किन्तु इसके दुरुपयोग को रोकने का कोई उपाय नहीं दिखता। अपरिपक्व भावी पीढ़ी असत्य एवं अर्धसत्य को ही पूर्णसत्य मान ले रही है।

परिवर्तन अवश्यम्भावी है, इसे रोका नहीं जा सकता। फिर भी यह समझ विकसित करने की आवश्यकता है कि परिवर्तन केवल परिधि पर ही रखा जाय,

केन्द्रीय मूल्य और सत्य का परिचय भावी पीढ़ी के लिए सुलभ कराया जाय साथ ही यह विवेक जगाने में उनकी मदद की जाय कि वे उचित-अनुचित, सत्य-असत्य, शुभ-अशुभ का अलगाव कर सकें। इसके बिना सारा विकास व्यर्थ है।

निष्कर्षत: सम्यक शिक्षा की महती आवश्यकता दिखाई पड़ती है। वर्तमान पद्धति अपर्याप्त है, विवेक उत्पन्न करने के लिए। परिवर्तन एवं स्थायित्व का सीमांकन आवश्यक है, यह शिक्षा के द्वारा ही सम्भव होगा। कुछ नित्य और कुछ परिवर्तनशील- इस प्रकार की संगति विवेक बुद्धि से ही सम्भव है।

जटाशंकर
सम्पादक

स्फुट विचार

- रामाश्रय तिवारी

(1)

"मन चंगा तो कठौती में गंगा।" संत रविदास का यह कथन प्रसिद्ध है। इस कथन में गंगा की अवहेलना नहीं, मन को चंगा रखने का महत्व प्रदर्शित करना भी कथ्य है। गड्ढा या क्षुद्रजलाशय न कहकर कठौती कहना बल देने के लिये अतिशयोक्ति है। इसमें गंगा का तिरस्कार नहीं वल्कि उनका महिमामंडन ही है। पवित्र करने के लिए सबसे अधिक क्षमता गंगा में है। मन चंगा न होने पर गंगा स्नान भी कुछ फल नहीं देगा, यही कथ्य है। "गंगे तव दर्शनात् मुक्ति: न जाने किं हि मज्जनात्" नारदपुराण की यह उक्ति भी गंगा की महिमा में अतिशयोक्ति है। चंगा मन से एक बार के स्नान से ही जीवन सार्थक हो जाता है तो बारबार स्नान की आवश्यकता नहीं होती है। मन चंगा होने पर ही बुद्धि की सात्विकता आदि से विकास करते हुए ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। निर्मल मन से गंगा-स्नान का यह फल है।

किसी फल में नहीं गंगास्नान में श्रद्धान्वित होना फलदायक है। महाकुंभ में सामान्य जनता, अनेक प्रकार के साधु, विदशी, वीआईपी और वीवीआईपी लोग किस तरह के मन से स्नान कर रहे हैं, यह उनके आचरण से भविष्य में स्पष्ट होगा। मानसिक स्थिति में परिवर्तन का आकलन करना संभव है। मन की निर्मलता बड़ी भारी उपलब्धि है। "मन: एव हि लोकानां कारणं बंध मोक्षयो:।" अर्थात् मन ही बंधन या मोक्ष का कारण है। तुलसीदास ने भी कहा--

निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहिं कपट छलछिद्र न भावा।।

(2)

हिन्दुत्व कोई धर्म नहीं वल्कि सनातन वैदिक धर्म के नियमों, सद्गुणों और सदाचार से अनुप्राणित और नियंत्रित एक प्राचीन संस्कृति है। अपौरुषेय वेद और तदाधारित शास्त्र, स्मृति और उनसे सम्मत इतिहास, पुराण आदि सनातन धर्म को नियंत्रित करते रहे हैं। स्मृतियों में संशोधन करके नई स्मृतियों के प्रणयन तथा

युगदृष्टा आचार्यों में अंतिम शंकराचार्य द्वारा सनातन धर्म को शास्त्रसम्मत विधि से समयानुकूल बनाया गया था। आज भी शंकराचार्य द्वारा रचित शास्त्र ही सनातन धर्म के मेरुदंड हैं। अब कुछ परिवर्तन अपेक्षित हैं। सनातन धर्म और हिन्दू संस्कृति के मौलिक स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुए, उन्हें अद्यतन स्वरूप देने वाले शंकराचार्य जैसे युगद्रष्टा की आवश्यकता है।

बाबा आदम से उत्पन्न ईश्वर के संदेशवाहकों द्वारा जिउ, फिर क्रिश्चियन, फिर मुसलमान बनाये गये हैं। एक ही कड़ी में होने के कारण मुस्लिम संप्रदाय भी सनातन कहा जाता है। किन्तु मुस्लिम संप्रदाय अपने पूर्व के संप्रदायों को समाहित नहीं कर सका वल्कि क्रिश्चियानिटी का वर्चस्व अधिक है। अतः वह सनातन नहीं। है। इन संप्रदायों के कुछ अंश हमारे सनातन धर्म में भी हैं किन्तु बहुत भिन्नता भी है। हमारी वैदिक सनातनता की अलग पहचान है। उन संप्रदायों से उत्पन्न संस्कृतियां भी हिन्दू संस्कृति से बहुत भिन्न हैं।

इस समय हिन्दू संस्कृति का नियामक सनातन धर्म नहीं वल्कि पाश्चात्य संस्कृति हो गई है। ऐसी हिन्दू संस्कृति ही अब हमारे सनातन धर्म को प्रभावित कर रही है। पहले धर्म का नियंत्रण संस्कृति पर था अब उलटी गंगा बहने पर विकृत संस्कृति ही धर्म का नियामक हो गई है। इससे सनातन धर्म के मौलिक आधारों को समाप्त किया जा रहा है। पहले गंगास्नान का महत्व रहा है। अब प्रयागराज के संगम पर नहाना मात्र ही मोक्षप्रद रह गया है। धर्म के ऊपर राजनीति करने से धनजन की हानि और गंगा का महत्व कम किया जा रहा है। ऐसी परिस्थिति से उबरने के लिए वैदिक साहित्य, स्मृतियां, शंकराचार्य द्वारा रचित शास्त्र एवं नानक, कबीर, रविदास आदि संतो की वाणी, मनोवैज्ञानिक तथा वंशानुक्रमक संबन्धी वैज्ञानिक खोजों को समाहित करते हुए, सनातन धर्म का सही स्वरूप प्रकाशित करना और उससे हिन्दू संस्कृति को नियंत्रित करना पड़ेगा।

(3)

सर्वनामों में परमार्थ का बोध कराने की शक्ति और शास्त्रों में इनका प्रयोग ज्ञात करने के लिए यहां एक विद्वद्मनोरंजन प्रस्तुत है -

युष्मद् (तुम) और अस्मद् (मैं) की प्रतीति सीमित अर्थ की होती है। तत् (वह) की प्रतीति शुद्ध सत् का बोधक भी हो सकती है। सीमित के समाप्त होने पर असीम शेष रहता है। तत् की ही प्रतीति शेष रहती है। तत् देश-काल की सीमा के परे अनन्त और अविनाशी, वृहत्तम और सूक्षतम ब्रह्म का बोधक है। तत् सत् ब्रह्म। तत् का ही एक रूप स: है। यह भी बहुधा ब्रह्म का बोधक होता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

शांडिल्य ऋषि ने कहा '"सर्वं खल्विदं ब्रह्म। तज्जलानिति शांतमुपासीत्"। अर्थात् सारी सृष्टि ब्रह्ममय है। उसी में उद्भव, पालन और प्रलय होता है। शांतचित्त से इस तरह से उपासना करनी चाहिए।

उद्दालक ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को "तत्त्वमसि" के उपदेश से ब्रह्मज्ञान कराया। सूक्ष्मतम कारक अदृष्ट रहता है। वही ब्रह्म है। उसका बोध आत्मस्वरुप से कराया गया है।

देखा जाता है कि सभी वाक्यों में ब्रह्म का बोध सर्वनामों से कराया गया है। संज्ञा, क्रिया, विशेषण, अव्यय शब्दों में ब्रह्मबोध की सामर्थ्य नहीं है और भी, "शांतं शिवं अद्वैतं तुरीयं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय:।" ऐसी विभिन्न श्रुतिवाक्यों से प्रतिपादित है कि आत्मा ब्रह्म है, वह विज्ञेय है। अनेक स्थानों पर मिलता है कि ब्रह्मज्ञातव्य नहीं है जैसे "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद स:।" अर्थात् जो बुद्धि के द्वारा नहीं आत्मरूप से ब्रह्म को जानता है वह जानता है और जो बुद्धि से जानने का दंभ करता है, वह नहीं जानता है। ब्रह्म बुद्धि का विषय नहीं है, ऐसा बहुश: कहा गया है। इन सब मान्यताओं के समन्वय से प्राप्त तात्पर्य है कि वह ब्रह्म आत्मा से ज्ञेय प्रज्ञान स्वरूप है। आर्ष वाक्य भी है "-प्रज्ञानं ब्रह्म।" सूक्ष्म आत्मतत्व का ज्ञान प्रज्ञान है। तब ज्ञाता और ज्ञेय दोनों एक ही होते हैं। द्वैत नहीं है। "अरुंधती दर्शन न्याय से ब्रह्म का आत्मरूप में ज्ञान कराने के लिए, आर्ष वाक्यों में, सर्वनामों का ही प्रयोग किया जाता रहा है। तत् सर्वनाम तो ब्रह्म का वाचक ही है।

(4)

तैत्तिरीय उपनिषद् में गुरु ने अपने शिष्य को दीक्षांत उपदेश दिया है। सत्यं वद, धर्मं चर आदि से आरंभ करके विषद् उपदेश है । उसी का अंश है:-

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

इसका एक अर्थ यह भी है कि हे शिष्य, जो हमारे सदाचार हैं उन्ही का अनुकरण करना, अन्यथा आचरण न करना। अर्थात् भक्ति ठीक है किन्तु अंधभक्ति नहीं। शास्त्रादेश के अनुसार उचित निर्णय के लिए विवेक का प्रयोग करना चाहिए। सही अभिप्राय विवेक से ही ज्ञात होता है। जिसके पास विवेक की क्षमता नहीं है, वह अपने समयके प्रतिष्ठित सदाचारी व्यक्ति का अनुकरण करे। यह भी विवेक है।

जिसके पास विवेक नहीं है उसका मार्गदर्शन गुरु याशास्त्र नहीं कर सकते हैं। अंधे के लिए दर्पण व्यर्थ है। यही कहा है:-

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पण: किं करिष्यति।।

(6)

हम शोक के समुद्र में गोता लगायें या आनन्द के सागर में, दोनों हमारे वश में हैं। दोनों मन:प्रसूति हैं। मन को बंधन और मोक्ष का कारण माना जाता है। स्वतंत्र आकस्मिकता या दैव को कारण नहीं माना जा सकता है क्योंकि वे भी पूर्वजन्म के कर्म के कारण उपस्थित होते हैं। पूर्वजन्म के कर्म भी मन के द्वारा ही हुये रहते हैं। कारण शरीर में मन सूक्ष्म रूप से अनन्त जन्म-जन्मांतर तक बना रहता है। इंद्रियां मन के नियंत्रण में रहती हैं। उसी के कारण शोक के लिए अनेक अवसर उपस्थित रहते हैं। आनन्द हमारा सहजस्वरूप है। मन जिसमें संलग्न हो जाय वही प्रक्रम उत्तरोत्तर प्रबल होता जाता है। ज्ञातव्य है कि रोना शनै:-शनै: समाप्त होता है किन्तु हंसी तत्काल समाप्त हो सकती है। आनंद स्थाई रहता है।

विद्वानों के विचारार्थ एक तथ्य प्रस्तुत करने का मोह नहीं छोड़ पा रहा हूं। यह भी प्रासंगिक और मन: कारणवाद के सन्दर्भ में ही है। अस्तित्ववाद पर बहुत शोधप्रबंध लिखे जा रहे हैं। मैं इस दर्शन का पूर्ण ज्ञान रखने का साहसी नहीं हूं। फिर भी जो पढ़ा, उससे मुझे लगता है कि यह दर्शन अधूरे तर्कों पर आश्रित है। जन्म-जन्मांतर के संस्कारों और कर्मवाद के रहस्यों को स्वीकार करने पर ,यह दर्शन पूर्ण हो सकता है। पूर्वात्य ज्ञान का ऋणीहोने में विद्वान को संकोच नहीं होना चाहिए। मन:कारणवाद और कर्मवाद में अंतर नहीं है। मन और कर्म संश्लिष्ट हैं। मन के बिना कर्म नहीं और कर्म के बिना मन नहीं रहते हैं। इनमें कार्य-कारण का संबध है। यही लिखा है -"यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते"- शिव संकल्प सूक्त। "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत" -गीता। मन की साधना या सत्कर्म करने का फल एक ही है। इसमें ईश्वर की अवधारणा आवश्यक नहीं है।

मन को यथेष्ट दिशा में लगाने के लिए कई तरह के साधन बताये गये हैं। अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार मार्ग का चयन करके, उसके अनुसार साधना से, तात्कालिक कष्ट की निवृत्ति हो जाती है। स्थाई आनन्द के लिए आत्मस्वरुप का ज्ञान होना चाहिए। इसके लिए कर्म में अकर्म की शिक्षा देने वाली औपनिषदिक विद्या ही साधन है। देश-विदेश के महान दार्शनिक व आध्यात्मिक चिंतक इस विद्या को मानवजाति के ज्ञान का चरम उत्कर्ष मानते हैं।

(7)

प्रजापति के पास देवता,असुर और मनुष्य तीनों उपदेश की कामना से गये। उन सभी को "द,द,द", एक ही अक्षर से उपदेश मिला। परीक्षार्थ पूछे जाने पर उपदेश का अर्थ देवताओं ने दम, असुरों ने दया और मनुष्यों ने दान बताया। प्रजापति ने इसका अनुमोदन किया। यह आख्यायिका उपनिषद् में है। अपनी-अपनी कमजोरी

का निवारण करना ही उपदेश का फल है। दम (इन्द्रियनिग्रह) होने पर मधुपाश (हनीट्रैप) आदि से, दया होने पर क्रूर हत्या के पाप आदि से तथा दान देने से कृपणता, संग्रह आदि कमजोरियों से मुक्ति मिलती है। यह तीनों पवित्र करने वाले हैं। तुलसी ने इनके संयोग को तीर्थराज कहा है- "दान, दया, दम तीरथराजू"। यह प्रथम तीर्थराज अपने आचरण से ही सुलभ है।

दूसरा तीर्थराज है-

मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू। प्रसन्नतामय, मंगलमय और संतमय समाज के संगम का चलता फिरता एक तीर्थराज भी तुलसीदास ने बताया है। अथवा, आगे मुद (सांसारिक सुख), बाद में मंगल (पारलौकिक सुख), दोनों को देने वाला संतो का समाज किसी भी स्थान को तीर्थ बनाते हुए, यह संचरणशील प्रयागराज है।

तीसरा तीर्थराज-

गंगा, जमुना- दो वेणी, दोनों के संगम के बाद संयुक्त जल से प्रवाहित गंगा तीसरी वेणी है। इस तरह की त्रिवेणी वाला प्रत्यक्ष प्रयागराज, स्थान विशेष पर स्थित, सर्वविदित है।

इस तरह सेसूक्ष्म से उत्तरोत्तर स्थूल रूप में तीन प्रयागराज हैं। इन में मन चंगा करके अवगाहन करना श्रेयस्कर है। मन चंगा हो तो स्नान अनवरत होता रहता है। मन चंगा न होने पर स्नान के प्रदर्शन से तीर्थ के पाप का कुफल भी है-"काटे पर बाढ़ें बहुरि जिमि तीरथ कर पाप"। उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर प्रयागराज में स्नान करना जीवन की सार्थकता है।

(8)

आत्महित को सर्वोच्च बताने के लिए दो नीतियां प्रसिद्ध हैं--

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।।

आत्मानं सततं रक्षेत्पुत्रैदरैर्धनैरपि।।

प्रथम नीति में कहा है कि कुल के हित में एक व्यक्ति को, ग्राम के हित में कुल को, वृहत् क्षेत्र के हित के लिए ग्राम को और आत्महित केलिए पृथ्वी अर्थात् सर्वस्व का त्याग कर देना चाहिए। अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक हितसाधन उपयोगितावादी सिद्धांत है। इसका संशोधन करते हुए आत्महित में अपना और

संपूर्ण विश्व का अधिकतम हित होने का सिद्धांत हमारे यहां बहुत पहले से है।

दूसरी नीति में धन , स्त्री तथा पुत्र से मोहग्रस्त होकर अपना परम हित नहीं छोड़ने की बात कही है। अपनी शरीर नहीं, आत्मतत्व के हित के लिए निकटतम पदार्थ से मोह छोड़ने की नीति हमारी संस्कृति का उच्च आदर्श है।

(9)

योग शब्द को विकृत करके योगा कहा जाने लगा है। नाम को शुद्ध रखने पर क्रिया भी शुद्ध रहेगी। योग शब्द पातंजल योग के लिये रूढ़ है। अन्य योगों के विशेषण युक्त नाम हैं।

योग की सिद्धि से स्वरूप में अवस्थिति (कैवल्य) की प्राप्ति का होना लिखित है। यह स्थिति निरवधि बनी रहती है। इसके पूर्व की सभी तरह की समाधियां सावधि होती हैं। अष्टांग योग की सिद्धि के बाद, विवेक ख्याति का भी त्याग होजाने तथा परवैराग्य के प्रगट होने पर, यथासमय यह स्थिति बनती है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, यह पातंजल योग के आठ अंग हैं। इनमें से प्रथम पांच को बहिरंग और अंतिम तीन को अंतरंग साधना कहा जाता है। यम के पालन से योग साधना दैवी संपत्ति तथा इसके बिना आसुरी संपत्ति की दात्री होती है। सार्वजनिक व्यवहार में यह दृष्ट है। नियमों के पालन से साधना में तेजस्विता मिलती है। यम के बिना केवल नियम का पालन करना पतन का कारण हो सकता है। यम साधना का मूल है।

आसन और प्राणायाम आजकल बहुचर्चित हैं। आसन से शारीरिक स्वास्थ्य और प्राणायाम से मानसिक व शारीरिक शक्ति मिलती है। इन शक्तियों का सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों संभव है। उपयोग का दिशा निर्धारण यम-नियम की साधना पर निर्भर करता है। आसन व प्राणायाम से प्राप्त सिद्धियों का रसास्वादन करने से वर्जित करने और पतन से बचने के लिए प्रत्याहार की साधना है। पांच बहिरंग साधनाओं की शिक्षा होने पर योग समाज तथा व्यक्ति के लिए हितकर है।

इनके बाद धारणा, ध्यान और समाधि तीन अंतरंग साधनायें हैं। इनका परिचय देना यहां अभीष्ट नहीं है। बहिरंग की दैवी फल हेतु सिद्धि होने के बाद ही इनका सेवन हितकर है।

शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक है लेकिन स्वास्थ्य का उपयोग धर्म की साधना के लिए हो, अधर्म के लिए नहीं। शिक्षा चरित्र निर्माण के लिए हो, मात्र रोजगार के लिए नहीं। राजनीति समाज सेवा के लिए हो, अर्थार्जन, अनीति आदि के लिए नहीं। योग रोग-निवारण और दैवी संपत्ति के लिए हो भोग के लिए नहीं।

वर्तमान समय में मनाया जा रहा योगदिवस तथा अनेक सामाजिक कार्य, सब दूषित हैं। संयमी व्यक्ति इनका सेवन सबके हित साधन में करता है।

उपर्युक्त बातों पर गहन विचार करके योगदिवस मनाने पर अपना हित सिद्ध होगा तथा विदेशों तक भारतीय योग-साधना की प्रशंसा होगी।

(10)

श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान, मिर्जापुर के द्वारा "समाज धर्म एवं दर्शन" नामक पत्रिका का प्रकाशन चालीस वर्ष से अधिक समय से चल रहा है। पत्रिका के नाम से इंगित है कि किसी देश केलिए दर्शन मूल है , धर्म तना है और समाज दृश्य विकसित वृक्ष है। अत: इन्हीं अंगों का वर्तमान के लिए उपयोगी स्वरूप प्रकाशित करने का प्रयास किया जाता है। इसके द्वारा भारतीय संस्कृति का प्रचार भी अभीष्ट है। प्रमुख संपादक का कार्य मेरे अनुज प्रोफेसर जटाशंकर तिवारी करते हैं।

राजनीति से ग्रस्त समाज की शक्ति और उसकी आकांक्षाएं अधोगामिनी होती जा रही हैं। इन्हें समर्थ और ऊर्ध्वगामिनी बनाने के लिए विद्वानों को अपनी शक्ति के अनुसार स्वधर्म का पालन करने की आवश्यकता है।

पूर्व उप-परिवहन आयुक्त
उत्तर प्रदेश

गाँधी दर्शन का आधार अद्वैत दृष्टि: एक विमर्श

-प्रो. ऋषि कान्त पाण्डेय

'भविष्य की पीढ़ी इस बात पर मुश्किल से विश्वास करेगी कि हाड़-माँस से बना कोई व्यक्ति कभी इस धरती पर हुआ करता था।' ("Generations to come will scarce believe that such a one as this ever in flesh and blood walked upon this earth."[1]) - Albert Einstein

महात्मा गाँधी, प्लेटो, अरस्तू, कार्ल मार्क्स आदि की भाँति कोरे दार्शनिक नहीं थे, अपितु धार्मिक भावना से अनुप्राणित जनकल्याण के लिए सतत् रूप से कार्य करने वाले एक सच्चे कर्मयोगी थे। अस्तु, उन्होंने अन्य दार्शनिकों की भाँति अपने सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप से प्रतिपादित नहीं किया है, अपितु व्यावहारिक जीवन में आने वाली समस्याओं के समाधान के लिए तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार चिन्तन किया तथा उस पर अपना विचार प्रकट करते हुए एक व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किया। सम्भवत: यही कारण है कि गाँधी जी के विचारों में कभी-कभी विरोध दृष्टिगोचर होता है। वस्तुत: यह विरोध नहीं, बल्कि एक प्रकार का विरोधाभास है, जिसका स्पष्टीकरण करते हुए स्वयं गाँधी जी कहते हैं कि यदि मेरे दो विचारों में कभी कहीं विरोध दिखाई दे तो उस स्थिति में मेरे परवर्ती विचार को ही महत्त्व प्रदान किया जाना चाहिए।

गाँधी जी का सम्पूर्ण दार्शनिक चिंतन जैन, बौद्ध तथा योग दर्शन द्वारा प्रतिपादित सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य रूपी पाँच महाव्रतों पर ही आधृत है। अस्तु, उनके विचारों में कोई मौलिकता नहीं है। उल्लेखनीय है कि गाँधी जी कभी भी अपने विचारों में मौलिकता का दावा भी नहीं करते हैं। यदि उनके विचारों में कोई मौलिकता है तो वह केवल उसके व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक पक्ष को लेकर ही है। गाँधी जी ने उन विचारों को व्यावहारिक धरातल पर प्रयोग करके उन्हें और अधिक सम्पुष्ट कर दिया।

महात्मा गाँधी, प्लेटो, अरस्तू, कार्ल मार्क्स आदि की भाँति कोरे दार्शनिक नहीं थे, अपितु धार्मिक भावना से अनुप्राणित जनकल्याण के लिए सतत् रूप से कार्य

करने वाले एक सच्चे कर्मयोगी थे। अस्तु, उन्होंने अन्य दार्शनिकों की भाँति अपने सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप से प्रतिपादित नहीं किया है, अपितु व्यावहारिक जीवन में आने वाली समस्याओं के समाधान के लिए तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार चिन्तन किया तथा उस पर अपना विचार प्रकट करते हुए एक व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किया। सम्भवत: यही कारण है कि गाँधी जी के विचारों में कभी-कभी विरोध दृष्टिगोचर होता है। वस्तुत: यह विरोध नहीं, बल्कि एक प्रकार का विरोधाभास है, जिसका स्पष्टीकरण करते हुए स्वयं गाँधी जी कहते हैं कि यदि मेरे दो विचारों में कभी कहीं विरोध दिखाई दे तो उस स्थिति में मेरे परवर्ती विचार को ही महत्त्व प्रदान किया जाना चाहिए।

गाँधी जी का सम्पूर्ण दार्शनिक चिंतन जैन, बौद्ध तथा योग दर्शन द्वारा प्रतिपादित सत्य, हिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य रूपी पाँच महाव्रतों पर ही आधृत है। अस्तु, उनके विचारों में कोई मौलिकता नहीं है। उल्लेखनीय है कि गाँधी जी कभी भी अपने विचारों में मौलिकता का दावा भी नहीं करते हैं। यदि उनके विचारों में कोई मौलिकता है तो वह केवल उसके व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक पक्ष को लेकर ही है। गाँधी जी ने उन विचारों को व्यावहारिक धरातल पर प्रयोग करके उन्हें और अधिक सम्पुष्ट कर दिया।

- गाँधी जी का दृष्टिकोण व्यावहारिक था। वे कहा करते थे कि ''मेरा जीवन ही मेरा संदेश है।''[2] सम्भवत: यही कारण है कि उन्होंने सर्वप्रथम इन सिद्धांतों को अपने जीवन में चरितार्थ किया, जब उसे सफल पाया तब लोक-कल्याण हेतु अन्य के लिए प्रतिपादित किया।
- गाँधी जी के पूर्व उपर्युक्त सिद्धांतों को केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही स्वीकार किया जाता था, यथा- सत्य बोलो, सदाचरण करो, चोरी मत करो, हिंसा मत करो आदि-आदि। गाँधी जी ने इन नैतिक नियमों को सार्वभौमिक स्तर प्रदान करते हुए उसे व्यष्टि से समष्टि की ओर विस्तारित किया अर्थात् उन्होंने इनका सफलतम प्रयोग परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के स्तर पर किया।
- गाँधी जी ने धर्म-ग्रंथों में प्रचलित मान्यताओं एवं कथाओं को नये अर्थों एवं संदर्भों में प्रस्तुत किया, यथा- गीता की ऐतिहासिक वर्ण-व्यवस्था को तिलांजलि देते हुए उसकी एक नूतन वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। गाँधी के लिए, वर्ण व्यवस्था आनुवांशिक होते हुए भी उसमें श्रेणीबद्धता नहीं है, जैसा कि प्राय: माना जाता रहा है। समाज की स्थिति एवं कार्य-कलाप में सभी वर्ण समान हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र, ये चारों वर्ण क्षैतिज

रूप से रखे गये थे तथा वे परस्पर प्रतिस्थापन योग्य हैं। (''For Gandhi, the 'varna' system was not hierarchical. All the four varnas were equal in status and functional to the society. The four varnas were placed horizontally and mutually replaceable.''[3]) इस प्रकार गाँधी की वर्ण व्यवस्था कठोर न होकर नम्य है। पुनश्च, उनके अनुसार किसी वर्ण विशेष में जन्म लेते हुए भी, कोई व्यक्ति अन्य वर्ण में विहित कार्यों में भी दक्ष हो सकता है। अस्तु, वे इस मत के समर्थक थे कि ''हम वह हो सकते हैं जो कोई भी हो सकता है। (''Let us be what everyone else can be.''[4])

- इसी प्रकार गाँधी जी ने कुछ पुराने मूल्यों को नये मूल्यों से जोड़ते हुए तत्कालीन संदर्भ में उसकी अद्यतन व्याख्या की।

गाँधी जी का नीतिशास्त्र ''धर्म-नीति'' पर आधृत है। यद्यपि वे धर्म एवं नैतिकता में कोई भेद नहीं करते थे, तथापि वे इन दोनों में नैतिकता को महत्त्व प्रदान करते हुए ''नीति-धर्म'' की बातें करते हैं। उनके अनुसार नीति ही सभी शास्त्रों की नियामक है। वे अपने अनेक लेखों में लिखते हैं कि जो धर्म, नीति का अनुपालन नहीं करता है, वह धर्म नहीं है। इसी प्रकार जो नीति, धर्मसंगत नहीं है, वह नैतिक नहीं है। इस प्रकार धर्म एवं नैतिकता एक दूसरे से अवियोज्य रूप से जुड़े हुए हैं। उनके अनुसार यदि धर्म को जीवन और समाज से निकाल दिया जाय तो व्यक्ति और समाज दोनों निष्प्राण तथा शून्य हो जाते हैं। स्पष्टत: वे धर्म को रूढ़िगत धर्म के अर्थ में नहीं मानते हैं। उनके अनुसार धर्म का तात्पर्य है 'आंतरिक शुद्धता' (Internal purification) और आंतरिक शुद्धता ही हमें ईश्वर का साक्षात्कार कराती है। तभी तो गाँधी जी कहते हैं कि ''जैसे-जैसे मेरा अन्त:करण शुद्ध होता जाता है वैसे-वैसे मैं अपने आप को ईश्वर के सन्निकट पाता हूँ।'' (''The purer I try to become, the nearer I feel to be God.''[5])। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी रामचरित मानस में लिखा है कि ''निर्मल मन जन सो मोही पावा, मोंहि कपट छल छिद्र न भावा।''[6]

जब हमारा अंत:करण शुद्ध हो जाता है तब उसकी अभिव्यक्ति हमारे आचरण में होती है, क्योंकि हमारी आध्यात्मिक स्थिति को मापने के लिए हमारे पास एक ही मानक है और वह है हमारा व्यवहार। हमारा व्यवहार ही परमार्थ की कसौटी है। ''जिस व्यक्ति की आध्यात्मिक स्थिति जितनी ऊँची होती है उसका नैतिक आचरण भी उतना ही उत्कृष्ट होता है तथा जिसका नैतिक आचरण जितना ही अधिक उत्कृष्ट होता है उसकी आध्यात्मिक स्थिति उतनी ही ऊँची मानी जाती है।''

इस प्रकार धर्म एवं नैतिकता एक ही सिक्के के दो पक्ष अथवा एक ही लेंस के दो पहलू के समान हैं। किसी लेंस के दो पक्ष होते हैं: उत्तल एवं अवतल। जब हम किसी लेंस को आंतरिक दृष्टि से देखते हैं तो वह उत्तल दिखाई देता है, परन्तु जब उसी लेंस को बाह्य दृष्टिकोण से देखते हैं तो वह अवतल दिखाई देता है। धर्म के भी दो पक्ष होते हैं: धर्म एवं नैतिकता। आंतरिक दृष्टि से जो धर्म है, बाह्य दृष्टि से वही नैतिकता है। इसीलिए गाँधी जी धर्म एवं नैतिकता को एक दूसरे से अवियोज्य मानते हैं। ''सत्य धर्म एवं सत्य नैतिकता एक दूसरे से अवियोज्य रूप से सम्बंधित हैं। नैतिकता के लिए धर्म वैसे ही आवश्यक है जैसे बीज के लिए जल, जो कि मिट्टी में बोया जाता है।'' (''True religion and true morality are inseperably bound up with each other. Religion is to be morality what water is to be seed that is sown in the soil.''[7])। पुनश्च, ''ज्योंही हम नैतिक आधार को खो देते हैं त्योंही हमारा धर्म भी समाप्त हो जाता है।'' (''...As soon as we lose moral basis, we cease to be religious.''[8])। इसी प्रकार वे ''हरिजन'' में लिखते हैं कि ''नैतिकता, आचारशास्त्र, एवं धर्म परिवर्तनीय पद हैं। धर्म के बिना नैतिक जीवन वैसे ही है जैसे कोई घर केवल रेत पर खड़ा हो और धर्म का नैतिकता से तलाक निर्लज्जता की भाँति है।'' (''Morals, ethics and religion are convertible terms. A moral life without reference to religion is like a house built upon sand, and religion divorced from morality is like 'sounding brass'.''[9])।

गाँधी जी के अनुसार जब हमारा अंत:करण शुद्ध हो जाता है तब हमारी भेद दृष्टि विगलित हो जाती है। ऐसी स्थिति में जीव सबमें एक ही तत्त्व अर्थात् अद्वैत तत्त्व की अनुभूति करता है। गाँधी जी का सम्पूर्ण दर्शन इसी अद्वैत दृष्टि पर ही आधृत है। उनका विश्वास था कि सृष्टि के कण-कण में एक ही चेतन सत्ता अथवा ईश्वर अंतर्व्याप्त है (ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्[10])। जब जगत् के कण-कण में ईश्वर का ही वास है तो मैं भी वास्तव में उसी का रूप हूँ। ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति वैâसे किसी अन्य से विद्वेष कर सकता है। मानस में भी गोस्वामी जी लिखते हैं कि ''निज प्रभुमय देखहिं जगत् केहि सन करहिं बिरोध''[11] अर्थात् सम्पूर्ण जगत् तो मेरे प्रभु अर्थात् आराध्य से ही व्याप्त है फिर मैं किससे बैर करूँ। मनुस्मृति में भी कहा गया है कि ''सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति।।''[12] अर्थात् आत्मा को सभी प्राणियों में व्याप्त तथा आत्मा में सभी प्राणियों को देखना तथा संसार के सभी प्राणियों को समान रूप से देखना आत्म-यज्ञ कहलाता है। इसी आत्म-यज्ञ का निष्ठापूर्वक

अनुपालन करने वाले को ही मोक्ष प्राप्त होता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि ''सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र सर्वदर्शन:।।''[13] अर्थात् सब जगह अपने स्वरूप को देखने वाला और ध्यान योग से युक्त अंत:करण वाला अपने स्वरूप को सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित देखता है और सम्पूर्ण प्राणियों को अपने स्वरूप में देखता है। अद्वैत की यही भावना हमें सत्य और अहिंसा का पाठ पढ़ाती है।

जब अद्वैत तत्त्व की अनुभूति होती है तब उसकी अभिव्यक्ति हमारे आचरण में प्रमुखत: दो रूपों में होती हैं: सत्य (Truth) एवं अहिंसा (Non-violence)। गाँधी जी के अनुसार सत्य एवं अहिंसा एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं। ''मेरे लिए सत्य एवं अहिंसा एक ही सिक्कें के दो पहलू हैं।'' (''Truth and Non-violence are, to me, faces of the same coin.''[14])। पुनश्च, यद्यपि यह सत्य है कि दोनों एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं तथापि उनमें से सत्य साध्य और अहिंसा साधन है। वे सच्चे साधन को सच्चे साध्य से अभिन्न मानते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि आदर्श स्थिति में अहिंसा ही सत्य है और सत्य ही अहिंसा है। उल्लेखनीय है कि आदर्शात्मक स्थिति में दोनों एक होते हुए भी व्यवहारत: दोनों पृथक्-पृथक् हैं। सत्य साध्य है, जबकि अहिंसा साधन। गाँधी जी का दावा है कि यदि साधन अच्छा है तो कोई कार्य कभी भी बुरा हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि उनके सिद्धांतों को 'साधनतावाद' (Instrumentalism) कहते हैं। यहीं पर गाँधी जी का मत कार्ल मार्क्स से पृथक् हो जाता है। मार्क्स मानते हैं कि जब साध्य अच्छा हो तो उसके निमित्त किसी भी साधन का प्रयोग किया जा सकता है। सम्भवत: यहीं कारण है कि मार्क्स साम्यवाद की स्थापना के लिए वर्ग-संघर्ष जैसे घृणित साधन का प्रयोग करते हैं, जबकि गाँधी जी सर्वोदय की स्थापना करते समय अहिंसा जैसे पवित्र साधन की सहारा लेते हैं।

गाँधी दर्शन में सत्य का प्रयोग दो अर्थों में किया है: पहला, नैतिक अर्थ में तथा दूसरा, सत्तात्मक अर्थ में। गाँधी जी के पूर्व सत्य शब्द का प्रयोग सामान्यत: नैतिक अर्थ में ही होता था अर्थात् सत्य का अर्थ है सत्य वचन बोलना अथवा मिथ्या वचन न बोलना। गाँधी जी के अनुसार वाणी के साथ-साथ विचार तथा आचार में सत्य का होना ही सत्य है। इस प्रकार सत्य का तात्पर्य सत्यनिष्ठा (Integrity) से है, जिसकी अभिव्यक्ति वाणी के साथ ही साथ हमारे विचार एवं आचरण के माध्यम से भी होती है। यदि शाब्दिक व्युत्पत्ति के दृष्टिकोण से Integrity पर विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि Integrity लैटिन भाषा के Integer से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है समग्र अथवा पूर्ण (Whole or Complete)। इस प्रकार ''इंटिजर एक पूर्ण संख्या है जिसमें कोई खण्ड/भाग नहीं होता है।'' (Integer is a

whole number without any fraction.)। संख्याएँ कई प्रकार की होती हैं :

Natural Number : 1, 2, 3, 4,.....
Whole number : 0, 1, 2, 3, 4, ...
Fraction Number : 1.2, 2.3, 3.4, 1/2, 2/3, ...
Integer Number : -4, -3, -2, -1, 0, 1, 2, 3, 4, ...

स्पष्टत: Integer, सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों ही होती है, परन्तु इसमें कोई खण्ड नहीं होता है। इस प्रकार यह एक पूर्ण संख्या होती है। इसी इंटिजर के आधार पर इंटेग्रिटी को चरित्र की पूर्णता/समग्रता/अखंडता (Completeness/ wholeness of character) के रूप में परिभाषित किया जाता है। चरित्र की पूर्णता/समग्रता/अखंडता का तात्पर्य ऐसे चरित्र से है जो निर्दोष हो अर्थात् जिसमें दोहरा चरित्र नहीं हो। इस प्रकार सत्यनिष्ठा, ढ़ोंग/पाखण्ड/छल (Hypocrisy) के विपरीत शब्द है। हमारा चरित्र वस्तुत: दो प्रकार का हो सकता है :

- अखण्ड/पूर्ण चरित्र (Wholeness/Completeness of character)
- खण्डित चरित्र (Fraction of character)

अखण्ड चरित्र अथवा चरित्र की पूर्णता ही सत्यनिष्ठा है, जो छल-प्रपंच, ढ़ोंग, पाखण्ड आदि से रहित हो। उल्लेखनीय है कि चरित्र की पूर्णता वह है जिसके अंतर्गत विचार, वाणी एवं कर्म इन तीनों में सुसंगति हो अर्थात् हम जो सोचते हैं वही बोलते हैं तथा वही करते भी हैं। खण्डित चरित्र का अर्थ है ढ़ोंग अथवा पाखण्ड अर्थात् जिसके विचार, वाणी एवं कर्म में असंगति हो। गाँधी जी के अनुसार सत्यनिष्ठा का अर्थ है मनसा, वाचा एवं कर्मणा इन तीनों में एकरूपता का होना अर्थात् जो चीज जिस रूप में है उसको हू-ब-हू उसी रूप में स्वीकार करना। गाँधी जी का जीवन सत्यनिष्ठा का साक्षात् उदाहरण था। अपरंच, गाँधी जी के अनुसार सत्य में एक बात और भी महत्त्वपूर्ण है और वह यह है कि इसके अंतर्गत सत्यता का अक्षरश: अनुपालन करने के साथ ही साथ दूसरों से असीमित प्रेम करना, उसकी यथासम्भव सहायता करना आदि भी शामिल है।

गाँधी जी सत्य का प्रयोग सत्तात्मक अर्थ में भी करते हैं। उनके अनुसार 'सत्य' शब्द 'सत्' से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है : सत्ता अथवा अस्तित्व (Existence)। गांधी जी के अनुसार सत् वह है जो सदैव विद्यमान रहे अर्थात् जिसका अस्तित्व तीनों की कालों (अतीत, आगत एवं अनंत) में विद्यमान रहे (त्रिकालाबाधित्वं सत्)। इस अर्थ में सत्य केवल ईश्वर अथवा ब्रह्म ही हो सकता है, क्योंकि केवल उसी की सत्ता तीनों कालों में विद्यमान रहती है। इसीलिए गाँधी जी सत्य-साक्षात्कार को ईश्वर साक्षात्कार के समतुल्य मानते हैं।

पुनश्च, गाँधी जी के अनुसार प्रत्येक धर्म में ईश्वर को सत्य माना गया है, परन्तु प्रत्येक धर्मावलम्बी ईश्वर को एक निश्चित स्वरूप में ही स्वीकार करता हैं जिसके कारण विभिन्न धर्मों में परस्पर संघर्ष होता रहता है। गाँधी जी के अनुसार सभी ईश्वर को सत्य मानते हैं, परन्तु उसके स्वरूप के सम्बंध में परस्पर विरोध है। इस प्रकार ''सत्य'' निर्विवाद होते हुए भी ईश्वर विवादास्पद है। ऐसी परिस्थिति में यदि ईश्वर को सत्य न कहकर सत्य को ही ईश्वर कह दिया जाय तो इसमें किसी को भी कोई परेशानी नहीं होनी चाहिए। सम्भवत: यही कारण है कि गाँधी जी ने 'ईश्वर को सत्य' न कहकर 'सत्य को ही ईश्वर' कहकर सभी धर्मों के बीच एक सामंजस्य लाने का प्रयास किया। उन्हीं के शब्दों में ''मेरी प्रार्थनापूर्ण खोज ने 'ईश्वर सत्य है' के स्थान पर 'सत्य ही ईश्वर है' का सिद्धांत दिया है। यह सिद्धांत हमें ईश्वर को प्रत्येक में देखने के योग्य बनाता है। मैं उसे प्रत्येक सत्ता में अंतर्व्याप्त महसूस करता हूँ।'' ("My prayerful search gave me the revealing maxim 'Truth is God', instead of the usual one 'God is Truth'. That maxim enables me to see God face to face as it were. I feel Him pervade every fibre of my being.''[15])।

सत्य को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए गाँधी जी ने जिस साधन को स्वीकार किया, वह है अहिंसा। प्राचीन काल से ही भारतीय परम्परा में अहिंसा को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता रहा है। महर्षि पतंजलि ने आत्म-शुद्धि की साधना के पाँच यमों में अहिंसा को पहला स्थान प्रदान किया है। इसी प्रकार जैन धर्म में भी अहिंसा को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। महात्मा गाँधी के इंग्लैण्ड से लौटने के उपर्यन्त उनपर जैन मुनी रामचन्द्र का प्रभाव पड़ा। उल्लेखनीय है कि भगवान बुद्ध ने कहा था कि 'बैर का अन्त बैर से नहीं, अपितु प्रेम से होता है।' ("Hatred does not cease by hatred: hatred ceases by love."[16])। गाँधी जी पर उपर्युक्त भारतीय परम्परा के साथ ही साथ बाइबिल के "The Sermon on the Mount"[17] तथा लियो टालस्टाय (Leo Tolstoy) के ग्रन्थों विशेषकर ''The Kingdom of God is Within You''[18] का भी प्रभाव पड़ा। उपर्युक्त विचारों से प्रभावित होकर गाँधी जी ने भी कहा कि ''बैर को प्रेम के द्वारा ही जीता जा सकता है।'' ("Hatred can be overcome only by love."[19])। उल्लेखनीय है कि गाँधी जी का योगदान इस सिद्धांत को स्वीकार करने में नहीं बल्कि अनेक क्षेत्रों में इसका व्यावहारिक प्रयोग करके इसकी महत्ता को निर्विवाद रूप से सिद्ध करने में है।

गाँधी जी के अनुसार हिंसा के दो अर्थ हैं: नकारात्मक एवं सकारात्मक। अहिंसा का नकारात्मक अर्थ है हिंसा का निषेध अर्थात् हिंसा न करना। दूसरे शब्दों में,

काम, क्रोध, लोभ, मोह, घृणा, विद्वेष आदि से वशीभूत होकर किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना अथवा उसके अधिकार का हनन नहीं करना। गाँधी जी के अनुसार अहिंसा केवल शरीर के स्तर पर ही नहीं बल्कि वाणी एवं मन के स्तर पर भी होनी चाहिए। उनके अनुसार ''प्रभावशाली होने के लिए आपकी अहिंसा, आपके वचन, आपके कर्म, आपके व्यवहार के रूप में प्रकाशित होनी चाहिए।'' (''Your Ahimsa to be effective, must shine through your speech, your action, your general behavior.''[20])। इसके लिए ''अहिंसा के समर्थक को निरन्तर परिश्रम, सतत् जागरूकता एवं अनवरत आत्म-नियंत्रण की आदत डालनी चाहिए।'' (A votary of Ahimsa must cultivate a habit of unremitting toil, sleepless vigilance, ceaseless self-control.''[21])। गाँधी जी के अनुसार अहिंसा का यह निषेधात्मक रूप है जिसे जैन, बौद्ध, पतंजलि आदि दर्शनों में स्वीकार किया गया है। गाँधी जी इसका प्रयोग निषेधात्मक के साथ ही साथ सकारात्मक अर्थ भी में करते हैं। उनके अनुसार अहिंसा मात्र हिंसा न करना नहीं है बल्कि यह ''सार्वभौमिक प्रेम और करुणा की भावना'' (Universal love and compassion) भी है। उनकी मान्यता है कि अहिंसा के द्वारा किसी भी प्रकार की समस्या का समाधान सम्भव है। उनके अनुसार मनुष्य स्वभावत: अच्छा होता है, परन्तु परिस्थितिवश वह हिंसक कार्यों में प्रवृत हो जाता है। अस्तु, अहिंसा के द्वारा आततायी से आततायी व्यक्ति का हृदय परिवर्तन किया जा सकता है। गाँधी जी के अनुसार अहिंसा के चार आधारभूत तत्त्व हैं, जो निम्नवत् हैं :

- प्रेम एवं करुणा (Love and Compassion): जिस प्रकार हिंसा का आधार घृणा है उसी प्रकार हिंसा का आधार प्रेम एवं करुणा है अर्थात् वह घृणा करता भी है तो पाप से, पापी से नहीं। गाँधी जी अपने Autobiography (1929) में लिखते हैं कि ''घृणा पाप से करो पापी से नहीं।'' ("Hate the sin and not the sinner."[22])। प्रेम की अभिव्यक्ति करुणा एवं त्याग के माध्यम से होती है। गाँधी जी के लिए करुणा, न तो सहानुभूति है और न ही परानुभूति बल्कि इसका मूल्य दोनों से उच्चत्तर है। 'सहानुभूति' (Sympathy) का तात्पर्य दूसरे के दु:ख-दर्द को बौद्धिक स्तर पर समझना तथा उसे सांत्वना देना है। (Acknowledging other's emotion, feeling, hardship and give assurance to provid them comfort.)। इस प्रकार सहानुभूति में बौद्धिक तत्त्व प्रधान होता है। 'परानुभूति' (Empathy) का अर्थ है दूसरे की कठिनाईयों को स्वानुभूत करना। दूसरे शब्दों में, दूसरे के जूते में अपना पैर रखना। (Feeling what others feel so that you can realise the same feeling. In other words, to put your legs in other's

shoes)। इस प्रकार इसमें बौद्धिक आश्वासन नहीं बल्कि अनुभूति का तत्त्व प्रधान होता है। स्पष्टत: दोनों शब्द समानार्थक होते हुए भी उनमें विभेद केवल उसके ''भावनात्मक अर्थों'' (Emotional meanings) को लेकर है। इस संदर्भ में करुणा (Compassion) उपर्युक्त दोनों से ही पृथक् है। करुणा में परानुभूति/स्वानुभूति के साथ ही साथ क्रियात्मक पक्ष भी महत्त्वपूर्ण होता है। इसके अंतर्गत दूसरे की कठिनाईयों को स्वानुभूत करके उसे यथासम्भव निदान करने का प्रयास भी है। इस प्रकार

करुणा **(Compassion)** = परानुभूति **(Empathy) +** क्रिया **(Action)**

- अनंत धैर्य (Infinite indurance): गाँधी जी के अनुसार अनंत धैर्य अहिंसा का अचूक ब्रह्मास्त्र है। भारी असफलता एवं कष्ट मिलने के बावजूद भी अिंहसक हिम्मत नहीं हारता है बल्कि पूर्ण मनोयोग एवं अनंत धैर्य के साथ अपना कार्य निरंतर रूप से करता रहता है। यहाँ धैर्य का अभिप्राय है कि जब मन के समक्ष विकार के कारक उपस्थित हों फिर भी मन में विकार उत्पन्न न हो, उसे धैर्य कहते हैं। (''विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि स एव धीरा:।''[23])
- अन्याय का प्रतिरोध (Resistance of unjustice): गाँधी जी के अनुसार अन्याय का प्रतिरोध भी अहिंसा का एक प्रमुख तत्त्व है। अन्याय को सहते रहना और उसका प्रतिकार न करना भी एक प्रकार का अन्याय ही है। अस्तु, प्रत्येक परिस्थिति में अन्याय का विरोध अपरिहार्य है, परन्तु गाँधी जी के अनुसार अहिंसा में केवल अन्याय का प्रतिकार ही नहीं बल्कि सत्यता के प्रति आग्रह भी शामिल है। इस प्रकार अहिंसा का अभिप्राय है 'अन्याय का प्रतिकार करते हुए सत्यता पर अडिग रहना'। इसीलिए गाँधी जी इसे प्रारम्भ में तो 'सविनय अवज्ञा' (Civil disobedience)कहते हैं, परन्तु अंतत: वे इसे सत्याग्रह की संज्ञा देते हैं।
- वीरता : गाँधी के अनुसार अहिंसा साहसी और वीर पुरुषों का अस्त्र है, निर्बलों अथवा कायरों का नहीं (''Non-violence is a weapon of the strong.''[24])। पुनश्च, वे लिखते हैं कि कोई व्यक्ति एक ही साथ अहिंसक एवं कायर दोनों नहीं हो सकता है। अहिंसा का अभ्यास महान साहस का कार्य है। (''A man can not then practice Ahimsa and be a coward at the same time. The practice of Ahimsa calls forth the greatest courage.''[25])।

गाँधी जी ने अहिंसा की चार अवस्थाओं में स्पष्टत: विभेद किया है :

जागृत अहिंसा (Justified non-violence): इसे गाँधी जी वीर पुरुषों की अहिंसा भी कहते हैं। ऐसे लोग अहिंसा को किसी दबाव में अथवा बोझ समझकर नहीं बल्कि आन्तरिक विचारों की उत्कृष्टता के आधार पर स्वीकार करते हैं। ऐसी अहिंसा का आधार अद्वैत तत्त्व है। यह आत्म-साक्षात्कार की अवस्था है जहाँ भेद-दृष्टि ही विगलित हो जाती है और व्यक्ति सबमें एक ही तत्त्व को सर्वत्र व्याप्त देखता है (ईशावास्यमिदम् सर्वं)। जब सबमें एक ही तत्त्व अंतर्व्याप्त है तो वह हिंसा किसकी करेगा। गाँधी जी के अनुसार जागृत अहिंसा, अहिंसा का सर्वोत्कृष्ट रूप है।

औचित्यपूर्ण अहिंसा (Justified non-violence): इस प्रकार की अहिंसा जीवन के किसी क्षेत्र विशेष में आवश्यकता पड़ने पर औचित्यानुसार एक नीति के रूप में अपनायी जाती है। यह जागृत अहिंसा की भाँति सर्वोत्कृष्ट तो नहीं है, क्योंकि यहाँ पर अहिंसक अहिंसा को आंतरिक विचारों की उत्कृष्टता के आधार पर नहीं बल्कि एक सर्वोत्तम नीति के रूप में स्वीकार करता है, परन्तु इसमें सदैव यह भय रहता है कि सम्भव है कल उससे भी श्रेष्ठ नीति मिल जाय तो वह अहिंसा का परित्याग करके अन्य नीति को मानने लगेगा। जिस प्रकार ईमानदारी को सर्वोत्तम मानकर उसका अनुसरण करने वाला व्यक्ति ईमानदार नहीं कहा जा सकता है, उसी प्रकार अहिंसा को एक नीति के रूप में मानकर उसका अनुपालन करने वाला व्यक्ति पूर्ण अहिंसक नहीं कहा जा सकता है। पूर्ण अहिंसक तो वह है जिसने इसे किसी नीति के रूप में नहीं बल्कि अद्वैत दृष्टि के आधार पर स्वीकार किया हो। इस प्रकार यद्यपि औचित्यपूर्ण अहिंसा, जागृत अहिंसा की भाँति प्रभावशाली तो नहीं है तथापि यदि इसका अनुपालन ईमानदारी, सच्चाई एवं दृढ़ता से किया जाय तो इससे वांछित उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है।

प्रतिहिंसा (Counter-violence): प्रतिहिंसा में हिंसा का प्रतिकार केवल हिंसा के द्वारा अर्थात् हिंसा केवल शरीर से, मन से नहीं। ऐसी अहिंसा द्विधा निषेध (निषेध का निषेध) होने के कारण भावात्मक है। ऐसी हिंसा कायरों की अहिंसा से श्रेष्ठ है, उदाहरणार्थ- यदि कोई सैनिक अपने दुश्मन की गोला-बारी का जबाब गोला-बारी से देता है तो वह हिंसा नहीं करता, बल्कि हिंसा का प्रति-उत्तर हिंसा से देता है और इस रूप में वह अहिंसक ही है। इसी प्रकार गीता में भगवान श्रीकृष्ण जब अर्जुन को युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हैं तो वे हिंसा का नहीं, बल्कि स्वधर्म पालन की बात करते हैं।

कायरों की अहिंसा (Non-violence of cowards): गाँधी जी कायरों की अहिंसा को अहिंसा न मानकर अव्यक्त अथवा निष्क्रिय (Latent/Passive

violence) मानते हैं। उनके अनुसार दुर्बलता एवं अहिंसा उसी प्रकार परस्पर विरोधी हैं जिस प्रकार अग्नि एवं जल। इसीलिए गाँधी जी कायरता को 'अव्यक्त हिंसा' कहते हैं।। इसमें भौतिक हिंसा तो नहीं, परन्तु मानसिक हिंसा अवश्य ही विद्यमान रहती है, क्योंकि कायर अपने विपक्षी का बुरा 'सोचता' एवं 'चाहता' है। स्पष्टत: इसमें हिंसा शरीर के स्तर पर तो नहीं अपितु मन के स्तर पर विद्यमान रहती है। इसीलिए गाँधी जी लिखते हैं कि ''अपनी असमर्थता को ढँकने के लिए अहिंसा रूपी चादर ओढ़ने से तो अच्छा हिंसा ही है, यदि वह हिंसा हमारे हृदय में है।'' ("It is better to be violent, if there is violence in our hearts, than to put on the cloak of non-violence to cover impotence."[26])

उल्लेखनीय गाँधी जी अहिंसा को परम्परागत दर्शनों की भाँति उत्कट अर्थ में न लेकर विनम्र अर्थ में स्वीकारते हैं। उनके अनुसार कुछ परिस्थितियों में हिंसा भी उचित है :

- जीवन में भरण-पोषण के लिए जितनी हिंसा अनिवार्य है, वह क्षम्य है। क्योंकि शरीर भी ईश्वर की ही धरोहर है। अस्तु, इसे नष्ट करने का अधिकार किसी व्यक्ति को नहीं। इसलिए उन्होंने हिंसक जन्तुओं की हत्या की अनुमति प्रदान करते हुए इसे 'संकटकालीन कर्त्तव्य' (Duty in distress) कहा है।
- शरणागतों के रक्षार्थ की गई हिंसा भी अभिनंदनीय है।
- यदि कोई व्यक्ति असह्य वेदना से पीड़ित हो और उसका कोई उपचार सम्भव नहीं हो तो ऐसी परिस्थिति में उस व्यक्ति को उसके दु:खों से छुटकारा दिलाने के लिए की गई हिंसा, हिंसा नहीं अपितु विशुद्ध अहिंसा है। उन्हीं के शब्दों में ''जिस प्रकार रोगी के कल्याणार्थ उसके शरीर पर चाकू का प्रयोग करके शल्य चिकित्सक कोई हिंसा नहीं करता बल्कि विशुद्ध अहिंसा का आचरण करता है उसी प्रकार कुछ परिस्थिति विशेष में असह्य वेदना से पीड़ित व्यक्ति के कष्टों से मुक्ति दिलाने के लिए उसके जीवन का अंत करना आवश्यक है।'' ("Just as a surgeon does not commit himsa but practises the purest ahimsa when he wields his knife on his patient's body for the latter's benefit, similarly one may find it necessary under certain imperative circumstances to go a step further and sever life from the body in the interest of the sufferer."[27])। पुनश्च, वे लिखते हैं कि ''यदि मेरे बच्चे को पागल कुत्ते ने काट लिया हो और उसका कोई यथोचित उपचार

सम्भव नहीं है तो मैं उसके जीवन को समाप्त कर देना अपना कर्त्तव्य समझूँगा।'' ("Should my child be attacked by rabies and there was no hopeful remedy to relieve his agony, I should consider it my duty to take his life."[28])

स्पष्टत: गाँधी दर्शन में हिंसा एवं अहिंसा निरपेक्ष पद नहीं, बल्कि एक सापेक्ष पद है। इसका निर्धारण कर्म अथवा उसके परिणाम के आधार पर नहीं बल्कि उसके प्रयोजन के आधार पर करना चाहिए। क्रोध, घृणा, विद्वेष आदि से प्रेरित होकर दूसरों को दिया जाने वाला कष्ट हिंसा है, परन्तु निस्वार्थ भाव एवं शांत चित्त से की गई हिंसा, विशुद्ध अहिंसा है। स्पष्टत: गाँधी जी अहिंसा को जैन, बौद्ध आदि की भाँति सीमित अर्थ में न मानकर अधिकाधिक विस्तृत एवं विनम्र अर्थ में स्वीकार करते हैं।

- जैन, बौद्ध आदि दर्शनों में अहिंसा को व्यक्तिगत स्तर पर स्वीकार किया गया है जबकि गाँधी जी उसे सामाजिक एवं वैश्विक स्तर पर अपनाने की बात करते हैं।
- जैन, बौद्ध आदि अहिंसा का केवल नकारात्मक अर्थ अर्थात् हिंसा न करने के अर्थ में मानते हैं, जबकि गाँधी जी इसे सकारात्मक अर्थ अर्थात् प्रेम एवं करुणा के रूप में भी मानते हैं।
- जैन, बौद्ध दर्शन प्रत्येक परिस्थिति में अहिंसा का समर्थन करते हैं, जबकि गाँधी जी कुछ अपरिहार्य परिस्थितियों में अहिंसा के स्थान पर हिंसा का भी समर्थन करते हैं।

गाँधी जी ने अहिंसा के सिद्धान्त को मूर्त रूप देने के लिए जिस कार्य पद्धति का प्रयोग किया वह सत्याग्रह है। इसके नाम एवं मौलिक सिद्धान्तों का विकास उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में किया। वहाँ की गोरी सरकार, भारतीयों के प्रति अन्यायपूर्ण कानून पास कर रही थी, जिसका उन्होंने अहिंसात्मक प्रतिरोध करने का निश्चय किया। उस समय उन्होंने इस आन्दोलन का नाम 'निष्क्रिय प्रतिरोध' (Passive resistance) दिया, किन्तु गाँधी जी ने दो कारणों से इस नाम को पसंद नहीं किया।

- अंग्रेजी शब्द का होना, जिससे भारत के लोग इसका सम्पूर्ण अर्थ नहीं समझ सकेंगे।
- इसमें गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का पूर्ण समावेश नहीं हो पाना।

कालांतर में मदनलाल गाँधी ने 'निष्क्रिय प्रतिरोध' के स्थान पर 'सदाग्रह' शब्द का सुझाव दिया, जिसका अर्थ है अच्छे कार्य में निष्ठा। गाँधी जी ने इसे पसंद करते हुए भी इसमें संशोधन किया और इसे 'सत्याग्रह' कहा। गाँधी जी के अनुसार 'सत्याग्रह' का अर्थ है सत्य के प्रति आग्रह, परन्तु यह सत्यांश ही है। इसका सम्पूर्ण अर्थ है: अन्याय का प्रतिकार करते हुए सत्य पर अडिग रहते हुए । ("Holding on the truth while resisting injustice.")। इस प्रकार सत्याग्रह का आधार सत्य से उत्पन्न होने वाले प्रेम और अहिंसा की शक्ति ही है। यह शारीरिक बल अथवा शस्त्रों की भौतिक शक्ति से सर्वथा भिन्न है। यह आत्मा की शक्ति है जिसकी अभिव्यक्ति, असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा व्यक्तिगत सत्याग्रह के रूप में होती है। गाँधी जी ने सत्याग्रह[29] के 11 गुण बताये हैं। सत्य, हिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अभय, अस्वाद, अस्पृश्यता-निवारण, शारीरिक श्रम, सर्वधर्मसमन्वय एवं स्वदेशी।

कुछ विचारकों का कहना है कि गाँधी जी के सिद्धांत आदर्शात्मक अथवा कल्पनात्मक हैं, जिनको व्यावहारिक रूप देना प्राय: असम्भव ही है। इस समस्या का समाधान करते हुए गाँधी जी कहते हैं कि वह आदर्श जिसको व्यावहारिक रूप दिया जा सके, एक अत्यंत ही तुच्छ आदर्श है। जीवन का आनंद आदर्श को प्राप्त करने में नहीं बल्कि उसके लिए सतत् रूप से प्रयत्न करते रहने में ही है। हम आदर्श के सन्निकट तो पहुँच सकते हैं, परन्तु उसे पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार गाँधी जी का आदर्श तो गणित के उस बिन्दु के समान है जिसकी पूर्ण उपलब्धि तो सम्भव ही नहीं है, परन्तु यथार्थ जीवन में हम उसके निकट अवश्य ही पहुँच सकते हैं।

संदर्भ

1. Albert Einstein famously stated about Mahatma Gandhi on his 70th birthday in 1939.
2. Gandhi, M.K. (1959): ''My life is my message'', compiled by Krishna Kripalani, Navjivan Publishing House, Ahmedabad, India.
3. Krishnan Nandela (2019): "Mahatma Gandhi on Varna-Ashrama System" *Episteme: an online interdisciplinary, multidisciplinary & multi-cultural journal*, Bharat College of Arts and Commerce, Badlapur, MMR, India, Volume 8, Issue 2, P. 52.
4. Shankaran, K. P. (25.02.2019): *"In Good Faith: Gandhi and the Varna Question"*, Indian Express, Chennai
5. Gandhi, M.K. (11.10.1928): *Young India*, P. 348
6. गोस्वामी तुलसीदास : रामचरित मानस, सुन्दरकांड, 43/3

7. Narayan, Shriman (1968): *The Selected Works of Mahatma Gandhi* (Ed.), Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India Vol. VI, P. 264.
8. Gandhi, M.K. (24.11.1921): *Young India*, P. 385.
9. Gandhi, M.K. (03.10.1936): *Harijan*
10. ईशोपनिषद् : 1/1
11. गोस्वामी तुलसीदास : रामचरित मानस, उत्तरकांड, 112 (ख)
12. मनुस्मृति : 12/92
13. श्रीमद्भागवद्गीता : 6/29
14. Gandhi, M.K. (1-10-1931): *Young India*, P. 287
15. Gandhi, M.K. (9.8.1942): *Harijan*, P. 264
16. Max Müller (1881): *Sacred Books of the East*, (Ed.), Vol. 10, "The Dhammapada", The Claredon Press, Oxford, P. 5.
17. "The Sermon on the Mount" is found in the Bible (Chapter 5-7). It is a collection of sayings spoken by Jesus of Nazareth found in the Gospel of Matthew that emphasizes his moral teachings, like emphasizing humility, forgiveness, and generous care for our neighbors.
18. Tolstoy, Leo (1894): "The Kingdom of God is Within You", The Cassell Publishing Co., Union Square, New York.
19. M. K. Gandhi (2004): "Soul Force: Gandhi's Writings on Peace", V. Geetha (Ed.). Tara Publishing, London, U.K., P. 367,
20. Gandhi, M.K. (6-5-1939): *Harijan*, P. 113.
21. *Ibid*., P. 113.
22. Gandhi, M.K. (1929): ''An Autobiography'', translated by Mahadev Desai, Navjivan Publishing House, Ahmedabad, India, P. 308.
23. कुमारसम्भवम् – प्रथम सर्ग
24. Gandhi, M.K. (1-10-1931): *Young India*, P. 287.
25. Chatterjee, Ramanand (Editor) (1916): *The Modern Review*, The Modern Review Office, Calcutta, P. 384.
26. Gandhi, M.K. (1965): ''Gandhi on Non-voilence'', Thomas Merton, A New Directions Paperbook, New York, P. 37.
27. Gandhi, M.K. (1950): "Hindu Dharma", Navjivan Publishing House, Ahmedabad, India, P. 216.
28. Ibid., P. 203.
29. Gandhi, M.K. (1932): "From Yeravda Mandir", Navjivan Publishing House, Ahmedabad, India, Pp. 1-48.

प्रामाण्यवादी विमर्श और अद्वैत वेदांत

- डॉ. अमित कुमार मिश्र

भारतीय ज्ञानमीमांसा के अंतर्गत ज्ञान के स्वरूप, स्त्रोत आदि की चर्चा के अतिरिक्त ज्ञान की प्रामाणिकता का प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण है। सामान्यत: जब हम किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो उसका स्वरूप या तो संषयात्मक होता है अथवा निष्चयात्मक। संषयात्मक ज्ञान स्पष्टत: प्रमा रूप नहीं किन्तु निष्चयात्मक ज्ञान कभी-कभी मिथ्या रूप भी होता है ऐसी स्थिति में हमें प्राप्त होने वाला निष्चयात्मक ज्ञान प्रमा रूप है अथवा नहीं यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। इसी प्रश्न के समाधान हेतु प्रस्तुत उपायों की चर्चा प्रामाण्यवाद सम्बन्धी प्रकरण के अंतर्गत की जाती है। इस प्रकार प्रामाण्यवाद का सम्बन्ध ज्ञान की प्रामाणिकता एवं अप्रामाणिकता के विनिश्चय सम्बन्धी विवेचन से है।

'प्रामाण्यवाद' "शब्द के अंतर्गत प्रयुक्त प्रामाण्य शब्द के दो व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ है-

1. प्रमाण होना
2. प्रमा होना

प्रामाण्यवाद, 'प्रामाण्य' "शब्द का द्वितीय अर्थ में प्रयोग अर्थात् प्रमा होने के अर्थ में किया जाता है। ज्ञात हो कि प्रमा से जुड़ा दूसरा पक्ष अप्रमा है अत: प्रामाण्यवाद के अंतर्गत ज्ञान के प्रमा होने के साथ ही साथ अप्रमा होने की समस्या का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार प्रामाण्यवाद ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रमाण्य सम्बन्धी चर्चा को लक्षित करने वाला सिद्धान्त है।

भारतीय परम्परा में प्रामाण्य और अप्रामाण्य को लेकर कुल दो तरह की समस्याएँ हैं-

1. प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति कैसे होती है?
2. प्रामाण्य व अप्रामाण्य की ज्ञप्ति (ज्ञान) कैसे होता है?

दार्शनिक जगत् इन उपर्युक्त प्रश्नों के दो तरह के समाधान प्रस्तुत करता है। प्रामाण्य या अप्रामाण्य की उत्पत्ति या तो स्वत: होती है या परत: अर्थात् किसी

ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति ज्ञान के साधनों से होती है या ज्ञान भिन्न साधनों से। इसी प्रकार प्रामाण्य और अप्रामाण्य या तो स्वत: जाने जाते हैं अर्थात् ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य ज्ञान के साधनों द्वारा ही जाने जाते हैं अथवा परत: अर्थात् ज्ञान भिन्न साधनों से।

इस प्रकार चार स्थितियाँ बनती हैं-

प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति स्वत: होती है, परत: होती है, इनमें ज्ञान स्वत: होता है या परत: होता है। इस प्रकार ज्ञान की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता का निर्धारण (उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों दृष्टियों से) या तो ज्ञान को उत्पन्न करने वाली कारण सामग्री से होता है अथवा उससे भिन्न सामग्री से। जहाँ प्रामाण्य या अप्रामाण्य का निर्धारण ज्ञान की कारण सामग्री से होता है वहाँ ज्ञानोत्पादक सामग्री व ज्ञान ग्राहक सामग्री का अभेद होता है और जहाँ प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता हेतु भिन्न सामग्री की अपेक्षा होती है वहाँ ज्ञानोत्पादक व ज्ञान ग्राहक सामग्री से भेद होता है। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए प्रामाण्य और अप्रामाण्य के संदर्भ में निम्न निष्कर्ष निगमित किये जा सकते हैं-

1. प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्थितियों में ज्ञानोत्पादक व ज्ञान ग्राहक सामग्री में अभेद हो।
2. प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्थितियों में ज्ञानोत्पादक व ज्ञानग्राहक सामग्री में भेद हो।
3. प्रामाण्य के संदर्भ में ज्ञानोत्पादक सामग्री व ज्ञान ग्राहक सामग्री में अभेद किन्तु अप्रामाण्य के संदर्भ में भेद हो।
4. प्रामाण्य के संदर्भ में ज्ञानोत्पादक सामग्री व ज्ञान ग्राहक सामग्री में भेद हो किन्तु अप्रामाण्य के संदर्भ में अभेद है।

भारतीय ज्ञानमीमांसा में उपर्युक्त चार स्थितियों में प्रथम व तृतीय स्वत: प्रामाण्यवाद के अंतर्गत तथा द्वितीय व चतुर्थ को परत: प्रामाण्यवाद के अंतर्गत परिगणित किया गया है। मध्वाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह ग्रंथ में इन स्थिति तथा इन्हें स्वीकार करने वाले दार्शनिक सम्प्रदायों का वर्णन निम्नवत् किया है-[1]

1. सांख्य दर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों के संदर्भ में स्वत: प्रामाण्यवाद का समर्थन किया गया है। (प्रामाण्य स्वत: अप्रामाण्य स्वत:)
2. न्याय दार्शनिकों के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही बाह्य कारकों पर निर्भर करते हैं। (प्रामाण्य परत:, अप्रामाण्य स्वत:)

3. बौद्ध दर्शन के अनुसार उत्पत्ति के समय अप्रामाण्य ज्ञान में ही रहता है जबकि प्रामाण्य बाह्य तत्वों पर निर्भर करता है। (प्रामाण्य परत:, अप्रामाण्य स्वत:)
4. मीमांसकों ने प्रामाण्य को ज्ञान में ही स्वीकार किया है तथा अप्रामाण्य के लिए बाह्य कारकों को उत्तरदायी ठहराया है। (प्रामाण्य स्वत:, अप्रामाण्य परत:)

उल्लेखनीय है कि अद्वैत वेदान्त के अंतर्गत भी मीमांसकों के ही समान प्रामाण्य को स्वत: और अप्रामाण्य को परत: स्वीकार किया गया है। उपर्युक्त स्थितियाँ किस प्रकार संभव होती हैं यह जानने के लिए हमें इन सम्प्रदायो की ज्ञानमीमांसीय स्थापनाओं तथा उनमें निहित प्रामाण्यवादी मान्यताओं को देखना होगा।

सांख्य दर्शन की प्रामाण्यवादी मान्यताओं को स्वत: प्रामाण्यवाद के अंतर्गत रखा जाता है। इसका आशय है कि ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वत: ग्राह्य हैं अर्थात् जिस कारण सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसी कारण सामग्री में ज्ञान की प्रामाणिकता व अप्रामाणिकता भी निहित रहती है। इस हेतु अन्य कारण की अपेक्षा नहीं होती। सांख्य दार्शनिकों का प्रामाण्यवाद सम्बन्धी यह मत उनके सत्कार्यवाद से संगति भी रखता है। सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान होता है। कार्य-कारण एक ही वस्तु के दो रूप हैं। कारण अनभिव्यक्त और कार्य अभिव्यक्त। इसी प्रकार ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य ज्ञान के फल हैं अत: इनकी सत्ता भी तो कारण में ही निहित स्वीकार करनी होगी। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानोत्पादक सामग्री ज्ञान ग्राहक सामग्री से भिन्न नहीं है इस प्रकार जिन कारणों से ज्ञान उत्पन्न होता है उन्हीं कारण सामग्री में ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य भी निहित रहता है अत: ज्ञान का सत्य या असत्य होना ज्ञान के कारणों में ही है। अपने इस स्वत: प्रामाण्यवाद के समर्थन में सांख्य दार्शनिकों का कहना है कि यदि प्रामाण्य और अप्रामाण्य को स्वतोग्राह्य न मानकर परतोग्राह्य माना जाय तो अनावश्यक गौरव दोष होगा क्योंकि प्रामाण्य व अप्रामाण्य के ग्रहण हेतु अतिरिक्त कारण सामग्री की कल्पना करनी होगी और यदि इन्हें स्वतोग्राह्य माना जाय तो लाघव होगा। अत: स्वतोग्राह्यता की स्वीकृति ही उचित है। किन्तु सांख्य के उपर्युक्त मत की आलोचना करते हुए यह कहा जा सकता है कि सांख्य के मत में परस्पर विरोधी कथनों का प्रतिपादन किया गया है यदि ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों स्वत: है तो हम वैध और अवैध ज्ञान के बीच भेद कैसे कर पायेंगे। इस प्रकार सांख्य के कथन में वदतोव्याघात है।

प्रामाण्यवादी मान्यताओं की चर्चा के क्रम में अन्य मत न्याय दार्शनिकों का है।

ये परत: प्रामाण्यवादी कहे जाते हैं। न्याय दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों परतोग्राह्य होते हैं। नैयायिकों की यह स्वीकृति उनके ज्ञानमीमांसीय यथार्थवाद का प्रतिफल है जिसके अनुसार समस्त ज्ञान सविषयक होता है निर्विषयक नहीं वस्तु की सत्ता ज्ञान की पूर्व मान्यता है। अपनी इस मान्यता के आलोक में ज्ञान की प्रक्रिया को व्याख्यापित करते हुए नैयायिक यह कहते हैं कि- हमारे सम्मुख 'घट' नामक एक पदार्थ है इसीलिए हमें घट का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हो रहा है। नैयायिकों के अनुसार इस घट का स्वरूप 'अयं घट' (यह घट है) होता है। नैयायिक इस घट विषयक ज्ञान को व्यवसाय कहते हैं। इसके अनन्तर मानस प्रत्यक्ष (अहं घटं जानामि) (मैं घट को जानता हूँ) इस प्रकार अनुव्यवसाय होता है। न्याय दार्शनिकों के अनुसार प्रतिकूल परिस्थिति के न रहने पर प्रत्येक व्यवसाय अनुव्यवसाय में परिणत हो जाता है। इस प्रकार यह अनुव्यवसाय ही है जो ज्ञानोत्पादक साधन है इसी से ज्ञान उत्पन्न होता है किन्तु यह वो साधन नहीं जिससे ज्ञान के प्रामाण्य या प्रामाण्य का पता चले। इस प्रकार ज्ञान ग्राहक सामग्री, ज्ञानोत्पादक सामग्री से भिन्न है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि ज्ञान की प्रामाणिकता व अप्रामाणिकता का पता कैसे चलता है? अर्थात् ज्ञान ग्राहक साधन क्या है?

नैयायिकों के अनुसार एक प्यासा व्यक्ति सरोवर में जल को देखता है, फिर सरोवर में पहुंचकर जल से प्यास बुझाता है। जल से प्यास बुझाने के पश्चात् जल प्राप्ति के लिए किये गये प्रयास ही सफलता के आधार पर वह यह अनुमान करता है कि मुझे जो जल ज्ञान हुआ वह प्रामाणिक था।[2] उसी प्रकार जब दूसरा प्यासा व्यक्ति मरुस्थल में सूर्य की लहलहाती किरणों में जल ज्ञान प्राप्त करता है तथा उस ज्ञान के आधार पर अपनी प्यास बुझाने के लिए वहाँ पहुँचता है तो उसे जल नहीं प्राप्त होता। अत: वह व्यक्ति प्रयास की विफलता के आधार पर यह अनुमान करता है कि मुझे जो जल ज्ञात हुआ था वह अप्रामाणिक था।

इस प्रकार जल का प्रमात्मक और भ्रमात्मक ज्ञान तो अनुव्यवसाय से ग्रहीत होता है किन्तु उसका प्रामाण्य या अप्रामाण्य अनुमान से ग्रहीत होता है जिसमें प्रामाण्य के ज्ञान हेतु सफल प्रवृत्ति का जनक होना तथा अप्रामाण्य के ज्ञान हेतु विफल प्रवृत्ति का जनक होना हेतु है। ये दोनों ही कारण ज्ञान के उत्पादक कारण से भिन्न कारण है। अत: न्यायदर्शन के अनुसार ज्ञान जिन कारणों से उत्पन्न होता है उसके प्रामाण्य व अप्रामाण्य का निर्धारण उन कारणों से नहीं अपितु भिन्न कारण सामग्री से होता है। यही परत: प्रामाण्यवाद है।

न्याय दार्शनिकों के इस परत: प्रामाण्यवाद की आलोचना करते हुए मीमांसकों

का कहना है कि नैयायिकों के अनुसार सफल और निष्फल प्रयासों की वैधता के निर्धारण के लिए दूसरे अनुमान की आवश्यकता होगी और दूसरी के निर्धारण हेतु तीसरे की और इस प्रकार अनवस्था दोष होगा।

परत: प्रामाण्यवाद की आलोचना करते हुए यह भी कहा जाता है कि नैयायिक प्रामाण्य को सफल प्रयास के अधीन स्वीकारते हैं परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि सफल प्रयास भी तो प्रामाणिक ज्ञान के अधीन है अत: परस्पर आश्रम दोष होगा।

बौद्ध दर्शन की प्रामाण्य सम्बन्धी मान्यताएँ दार्शनिक जगत में विशेष महत्व की है। बौद्ध दार्शनिक ज्ञान के अप्रामाण्य को स्वत: और प्रामाण्य को परतोग्राह्य स्वीकारते हैं। बौद्धों की स्पष्ट स्वीकृति है कि उत्पत्ति के समय समस्त ज्ञान अवैध रहता है किन्तु कालान्तर में बाह्य परिस्थितियों अथवा कारकों से वह वैध हो जाता है। इस प्रकार अप्रामाण्य के सम्बन्ध में ज्ञानोत्पादक साधन और ज्ञान ग्राहक सामग्री एक ही है अर्थात् अभिन्न है किन्तु प्रामाण्य के लिए उत्पादक सामग्री से भिन्न सामग्री की अपेक्षा है। बौद्ध दार्शनिकों की इस मान्यता को समझने के लिए हम आचार्य धर्मकीर्ति के संदर्भ ले सकते हैं। धर्मकीर्ति के अनुसार, ''ज्ञान का अविसंवादक (अबाधित) होना ही प्रामाण्य है जो बाद में ज्ञात होता है।[3] अपनी इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि, ज्ञान दो प्रकार का होता है-

1. विसंवादी (अनुभव से बाधित),
2. अविसंवादी (अनुभव से अबाधित)।

हमें पूर्व ज्ञान के द्वारा वस्तु का जो स्वरूप प्रदर्शित हुआ यदि उसी वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तो हमारा ज्ञान अबाधित है, अविसंवादी है किन्तु पूर्व ज्ञान से भिन्न वस्तु की प्राप्ति होना विसंवाद या बाधित अनुभव है। इस प्रकार प्रदर्शन व प्राप्ति में सामंजस्य ही संवाद है। यही ज्ञान की प्रामाणिकता की कसौटी है। इस संदर्भ में महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि प्रदर्शन व प्राप्ति में इस सामंजस्य का निर्धारण कैसे होगा? इस हेतु आचार्य धर्मकीर्ति अर्थक्रियास्थिति को स्वीकारते हैं।[4] आचार्य द्वारा स्वीकृत अर्थक्रिया स्थिति को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ- यदि किसी व्यक्ति ने दूर से वीणा का "शब्द सुना और समझा कि यह वीणा का "शब्द है फिर निकट जाकर नेत्रों से देखा तो 'यह वीणा है' इस प्रकार का ज्ञान हुआ, यहाँ श्रोत ज्ञान का चाक्षुष ज्ञान से संवाद होता है, अत: श्रोत ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय हो जाता है।

यही अर्थक्रिया स्थिति है उससे होने वाले संवाद से प्रामाण्य का निश्चयन है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्ध दार्शनिक ज्ञान के प्रामाण्य को तो स्वतोग्राह्य मानते हैं किन्तु प्रामाण्य को परतोग्राह्य स्वीकारते हैं।

बौद्ध दार्शनिक अप्रामाण्य को स्वत: और प्रामाण्य को परत: मानने के संदर्भ में तर्क भी प्रस्तुत करते हैं-

1. बौद्ध विचारकों के अनुसार यदि ज्ञान का प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों स्वतोग्राह्य हों तो भ्रम को भी ज्ञानरूप स्वीकारना होगा।
2. ज्ञान अनुभव है अनुभव का बाध हो जाता है यदि ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञान के साथ ही उत्पन्न हो तो ऐसे बाधक अनुभवों की व्याख्या नहीं हो सकेगी।

अत: अप्रामाण्य को स्वत: और प्रामाण्य को परत: होना चाहिए। किन्तु बौद्ध दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित प्रामाण्यवादी मान्यताएँ भी पूर्णत: निर्दोष नहीं कही जा सकती क्योंकि-

यदि ज्ञान उत्पत्ति से ही अप्रामाणिक (असत्य) है तो सफलता की व्याख्या नहीं हो पाती। यदि मनुष्य को यह पूर्वरूप से ज्ञात हो कि उसका ज्ञान असत्य है तो इस आधार पर वह कार्य करके सफल नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त यदि उत्पत्ति के समय ही कोई ज्ञान अवैध है तो कालान्तर में जिस परवर्ती ज्ञान द्वारा वैध ठहराया जाता है वह स्वयं ज्ञान का उदाहरण होगा। इस ज्ञान को उदाहरण को पुन: वैधता हेतु अन्य ज्ञान की अपेक्षा होगी और इस क्रम में आगे बढ़ने पर अनवस्था दोष होगा।

प्रामाण्यवादी मान्यता के संदर्भ में मीमांसा दर्शन द्वारा स्थापित मत महत्वपूर्ण है। मीमांसा प्रतिपादित मत भी स्वत: प्रामाण्यवाद कहा जाता है। मीमांसकों की यह स्पष्ट मान्यता है कि प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है अर्थात् जिन कारणों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है उन्हीं कारणों से ज्ञान की प्रामाणिकता का भी निर्धारण होता है। अत: प्रामाण्य के संदर्भ में ज्ञानोत्पादक तथा ज्ञान ग्राहक सामग्री अभिन्न है।

किन्तु वहीं दूसरी ओर मीमांसक अप्रामाण्य के संदर्भ में स्वतोग्राह्यता का निषेध करते हैं। उनकी मान्यता है कि ज्ञान का प्रामाण्य तो स्वतोग्राह्य है किन्तु उसका अप्रामाण्य परतो ग्राह्य है अर्थात् ज्ञान के प्रामाण्य के निर्धारण के लिए अतिरिक्त कारण की अपेक्षा होती है। अप्रामाण्य के संदर्भ में ज्ञानोत्पादक साधन और ज्ञान ग्राहक सामग्री भिन्न-भिन्न हैं।

इस प्रकार मीमांसक प्रामाण्य को तो स्वतोग्राह्य मानते हैं किन्तु अप्रामाण्य की परतोग्राह्यता का समर्थन करते हैं। उल्लेखनीय है कि मीमांसकों ने प्रामाण्य और

अप्रामाण्य सम्बन्धी उपरोक्त मान्यता का समर्थन अपनी-अपनी ज्ञान सम्बन्धी मान्यताओं के आधार पर किया है इस दृष्टि से हम मीमांसकों के मत को निम्न भागों में विभाजित कर सकते हैं-

1. प्रभाकर मत (गुरुमत)

2. आचार्य कुमारिल का मत

प्रभाकर अपनी प्रामाण्यवादी मान्यता को त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद के सिद्धान्त में स्पष्ट करते हैं उनके अनुसार-ज्ञान स्वप्रकाश है। उसका स्वभाव ही ऐसा है कि वह अपने साथ-साथ दूसरों को भी प्रकाशित करता है। आचार्य का कहना है कि ज्ञान स्वप्रकाश रूप में ही उत्पन्न होता है अर्थात् अपनी उत्पत्ति के प्रथम क्षण में भी अज्ञात नहीं रहता, जन्म से ही ज्ञानभाव उत्पन्न होता है। यह तभी सम्भव है जबकि ज्ञान की उत्पादक सामग्री हो अर्थात् ज्ञान का प्रामाण्य भी ज्ञान के साथ उत्पन्न हो।

यदि ज्ञानोत्पादक सामग्री और ज्ञान ग्राहक सामग्री को भिन्न-भिन्न लिया जाय तो दोनों का सन्निधान साथ नहीं हो सकता। दोनों में काल-भेद या समय का अंतर होगा। ज्ञानोत्पादक सामग्री पहले होगी और ज्ञान ग्राहक सामग्री बाद में होगी। ऐसी स्थिति में ज्ञान उत्पन्न होकर भी अज्ञात होगा और ज्ञानकी स्वप्रकाशता समाप्त हो जायेगी। अत: ज्ञान का स्वप्रकाश रूप तभी होगा जब ज्ञानोत्पादक सामग्री और ज्ञानग्राहक सामग्री में भेद न हो।

अपने मत को त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद से पुष्ट करते हुए प्रभाकर कहते हैं कि ज्ञान प्रकाश है जो स्वयं के अतिरिक्त ज्ञेय (विषय) और ज्ञाता दोनों को प्रकाशित करता है। उदाहरण के लिए जब हमे घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तो इसका स्वरूप (यह घट है) न होकर, 'मैं घट को जानता हूँ' होता है। घट ज्ञान के इस रूप मे घट (ज्ञेय) घट ज्ञान (ज्ञान) और घट ज्ञाता (मैं) तीनों का प्रकाशन होता है। यही त्रिपुटी विषयक ज्ञान सिद्धांत है। इसमें ज्ञानोत्पादक सामग्री और ज्ञान ग्राहक सामग्री में अभेद होता है। अभेद है इस कारण प्रामाण्य भी इसी में निहित होता है। अर्थात् इस प्रकार जब ज्ञान उत्पन्न होता है तो अपने विषय, स्वयं तथा ज्ञाता को ही विषय नहीं बनाता साथ ही यह ज्ञान अपने प्रामाण्य को भी विषय बनाता है। अत: ज्ञान का समुचित आकार 'मैं घट को जानता हूँ' नहीं अपितु 'मुझे घट का प्रामाणिक ज्ञान हो रहा है' होता है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञानोत्पादक और ज्ञान ग्राहक सामग्री एक है।

किन्तु वहीं दूसरी ओर ज्ञान के अप्रामाण्य का निर्धारण अन्य कारणों से होता है। प्रभाकर के अनुसार ज्ञान का अप्रामाण्य प्रवृत्ति की विफलता पर निर्भर करता

है। यह प्रामाण्य अनुमेय है विफलता ही इस अनुमान का हेतु है। हमें घट को देखकर घट को प्राप्त करने की प्रवृत्ति होती है, परन्तु घट के हाथ न लगने पर प्रवृत्ति निष्फल हो जाती है और इस विफलता के आधार पर हम अनुमान करते हैं कि मेरा घट विषय ज्ञान अप्रामाणिक था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रभाकर के अनुसार प्रामाण्य के सम्बन्ध में तो ज्ञानोत्पादक सामग्री और ज्ञान ग्राहक सामग्री में अभेद है जबकि अप्रामाण्य के सम्बन्ध में दोनों में भेद है। अत: ज्ञान का प्रामाण्य तो स्वत: है किन्तु अप्रामाण्य परत: है। किन्तु आचार्य प्रभाकर के उपर्युक्त मत की भी सीमाएं हैं-

1. ज्ञान के सम्बन्ध में आचार्य का मत त्रिपुटी संवित् है- अर्थात् ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय और स्वयं को प्रकाशित करता है। यह स्वयं प्रकाश है, तभी ज्ञाता और ज्ञान को प्रकाशित करता है। ज्ञान उत्पत्ति के प्रथम क्षण से ही ज्ञायमान होता है। आरम्भ से ही ज्ञायमान होने से ज्ञान का प्रामाण्य उसमें ही निहित होता है। इसके विरुद्ध आक्षेप यह है कि यदि ज्ञान जन्म से ही प्रकाश रूप है, जन्म से ही प्रामाणिक है तो संशय और भ्रम कैसे उत्पन्न होते हैं?
2. आचार्य प्रभाकर प्रामाण्य को स्वत: और अप्रामाण्य को परत: मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान के अप्रामाणिक होने का निश्चय असफलता से होता है। प्रश्न यह है कि ज्ञाता असफल होता ही क्यों है? यदि अप्रामाण्य के लिए असफलता आवश्यक है तो प्रामाण्य के लिए सफलता क्यों नहीं? यदि ज्ञान जन्म से ही प्रामाणिक होता है तो असफलता का प्रश्न ही नहीं। यदि ज्ञान सत्य ही उत्पन्न होता है तो ज्ञाता को सर्वदा अपने प्रयास में सफल होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं।
3. आचार्य प्रभाकर के अनुसार घट ज्ञान का स्वरूप (मुझे घट ज्ञान का प्रामाणिक ज्ञान हो रहा है)। यह ज्ञान 'यह घट है' और 'मैं घट को जानता हूँ' से भिन्न है। इसे स्वीकार करना कठिन है। घट के प्रामाणिक तत्व प्रामाणिकता को स्वीकार करना ही होगा। परन्तु आचार्य इसे अतिरिक्त तत्व नहीं मानते।
4. आचार्य प्रभाकर त्रिपुटी संवित् सिद्धान्त को मानते हैं उनके अनुसार ज्ञान तो स्वप्रकाश है। अत: यह अपने को, विषय को और ज्ञाता को एक ही साथ प्रकाशित करता है। इस प्रकाश में प्रामाण्य भी सम्मिलित है। इसीलिए उनके अनुसार घट ज्ञान का आकार-मुझे घट का प्रामाणिक ज्ञान हो रहा है- होगा। इसमें ज्ञानोत्पादक सामग्री एवं ज्ञानग्राहक सामग्री एक साथ ही है।

इससे प्रामाण्य का स्वत: होना सिद्ध है। किन्तु इससे प्रामाण्य में प्रवृत्ति की व्याख्या न हो पायेगी। प्रवृत्ति प्रामाण्य के पूर्व नहीं हो सकती। प्रवृत्ति तो पश्चात् ही होती है। जब अर्थ ज्ञात हो गया तो अर्थ का लाभ मिल गया।

प्रभाकर मत की उपर्युक्त वर्णित सीमाओं से परिचित होते हुए मीमांसा दर्शन के द्वितीय आचार्य कुमारिल अपने मत का प्रणयन करते हैं।

1. आचार्य कुमारिल अपने मत की स्थापना अपने ज्ञाततावाद नामक सिद्धान्त के आधार पर करते हैं उनके अनुसार ज्ञान एक अतिन्द्रिय अदृश्य शक्ति है जो कभी समाप्त नहीं होती। यदि समाप्त होती तो पुन: कार्य नहीं करती। विषय के सम्पर्क में आकर यह शक्ति कार्य करने लगती है।

2. आचार्य कुमारिल के अनुसार ज्ञान में ज्ञातता नामक एक विशेष धर्म होता है जिसके कारण जब विषय ज्ञान के सम्पर्क में आता है तो ज्ञेय हो जाता है। यह ज्ञातता प्रत्यक्षगम्य है किन्तु ज्ञातता का कारण ज्ञान अनुमेय है। यह अनुमेय ज्ञान ज्ञातता लिंगक है अर्थात् जिस विषय में ज्ञातता नामक लिंग हो अर्थात् जो ज्ञेय हो उससे या ज्ञातता के कारण भूत ज्ञान का अनुमान होता है। हम ज्ञातता नामक लिंग से ही ज्ञान और उसके प्रामाण्य दोनों का अनुमान करते हैं। इस मत में ज्ञानोत्पादक सामग्री तो ज्ञातता है और इसी ज्ञातता के आधार पर ही प्रामाण्य का भी निश्चय होता है। दोनों ही उत्पादक सामग्री और ग्राहक सामग्री एक ही ज्ञातता है। इसके प्रामाण्य के लिए हमें किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं। अत: प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है।

किन्तु अप्रामाण्य के लिए अन्य कारण की अपेक्षा है और वह कारण प्रवृत्ति की विफलता इसी के आधार पर मह अप्रामाण्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

आचार्य कुमारिल के उक्त मत के संदर्भ में नैयायिकों का कहना है कि कार्य कारण के अभाव में उत्पन्न नहीं हो सकता। ज्ञातता तो ज्ञान से उत्पन्न है क्योंकि 'मुझे यह घट ज्ञात हो गया', इससे ही घट की ज्ञातता का अनुभव होता है। अत: ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता का जन्म ज्ञान के बिना नहीं हो सकता, इस अर्थापत्ति से उसके उत्पादक ज्ञान की सिद्धि होती है अत: न्याय के अनुसार आचार्य कुमारिल की अर्थापत्ति का स्वरूप दूसरा ही है। इस स्वरूप में आचार्य का मन्तव्य उलट जाता है। आचार्य के अनुसार ज्ञातता से ज्ञान की सिद्धि होती है। न्याय के अनुसार ज्ञान कारण है और ज्ञातता कार्य। अत: कार्य के अभाव में कारण का उदय मान्य नहीं।

1. ज्ञातता के विरुद्ध न्याय का आक्षेप है कि यदि ज्ञातता से ही ज्ञान विषयता की व्यवस्था होती तो ज्ञातता में एक दूसरी ज्ञातता की कल्पना करनी होगी। क्योंकि ज्ञातता भी अपने ज्ञान का विषय होगी। ज्ञान का विषय अवश्य होना चाहिए, इस नियम की रक्षा के लिए ज्ञातता के लिए भी ज्ञातता की कल्पना होगी। दूसरी ज्ञातता के लिए तीसरी ज्ञातता और तीसरी के लिए चौथी। इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। यदि इस दोष से बचने के लिए यह माना जाय कि ज्ञातता से ज्ञान के विषय की व्यवस्था होती है, यह स्वाभाविक है। इसके विरुद्ध नैयायिकों का कहना है कि यदि ज्ञातता स्वभाव से ज्ञान का विषय बन सकती है तो घट आदि पदार्थ स्वभाव से ज्ञान का विषय क्यों नहीं?

2. न्याय का आक्षेप यह है कि ज्ञातता की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि ज्ञातता को ज्ञान का ग्राहक किसी प्रकार मान भी लिया जाय तो इससे प्रामाण्य का स्वत: ग्रहण सिद्ध नहीं हो सकता। स्वत: ग्रहण का तात्पर्य है कि प्रामाण्य का ग्रहण उसी साधन से होता है जिससे ज्ञान सम्पन्न होता है। परन्तु ज्ञान तो सामान्य ज्ञातता से उत्पन्न होता है और प्रामाण्य का ज्ञान विशेष ज्ञातता से। सामान्य और विशेष ज्ञातता भिन्न है। अत: ज्ञान के साधन और प्रामाण्य के साथ में भेद है।

3. आचार्य कुमारिल के अनुसार प्रमाणभूत ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता से ही प्रामाण्य का ज्ञान होता है, क्योंकि प्रमाणभूत ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता अव्यभिचारिणी है। अत: प्रामाण्य ज्ञान उत्पन्न करती है। परन्तु यह मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि अप्रमाणभूत ज्ञान से भी उत्पन्न ज्ञातता तो है। एक ज्ञातता को प्रमाण और दूसरो को अप्रमाण मानने का आधार नहीं है।

4. आचार्य कुमारिल की ओर से यह तर्क दिया जाता है कि प्रामाणिक ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता अव्यभिचारिणी है, अत: प्रामाण्य का सम्पादन करती है। दोनों का साधन एक होने से ज्ञान और प्रामाण्य स्वत: सिद्ध होते हैं। न्याय की ओर से इसका प्रतिवाद करते हुए कहा जाता है कि अप्रामाण्यभूत ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता अप्रामाण्य की व्यभिचारिणी है, अत: अप्रामाण्य का सम्पादन करती है। अत: अप्रामाण्य का साधन भी ज्ञान का साधन है। अप्रामाण्य के लिए भी अतिरिक्त कारण की आवष्यकता नहीं है अत: मीमांसकों को प्रामाण्य की ही भाँति अप्रामाण्य को भी स्वत: स्वीकार करना चाहिए। परन्तु मीमांसक प्रामाण्य को ही स्वत: मानते हैं।

चर्चा के इस क्रम में अद्वैत वेदांत की प्रामाण्य संबंधी मान्यता अपनी कुछ मौलिक विशिष्टताएँ रखती है जिसकी पृष्ठभूमि में उनकी तत्वमीमांसीय दृष्टि विद्यमान है। उनकी प्रामाण्य संबंधी मान्यता क्या है इसकी चर्चा से पूर्व दो महत्वपूर्ण बातों पर विचार करना आपेक्षित है-

प्रथम तो यह कि वेदांत का 'ज्ञान' संबंधी विचार मीमांसकों से भिन्न है। अद्वैत साहित्य में 'ज्ञान' "शब्द को कुल चार अर्थों द्वारा व्याख्यायित किया गया है-

1. अंत:करणवृत्ति
2. अंत:करणवृत्यावच्छिन्न चैतन्य
3. साक्षी चैतन्य
4. सभी प्रकार की सीमाओं से रहित "शुद्ध चैतन्य"

उल्लेखनीय है कि ज्ञान संबंधी इन चार प्रकार के अर्थों में प्रामाणिकता अप्रामाणिकता का प्रश्न तृतीय और चतुर्थ अर्थात् साक्षी चैतन्य और "शुद्ध चैतन्य के संदर्भ में लागू नहीं होता क्योंकि इन स्थितियों में ज्ञान व विषय का संबंध निर्मित नहीं होता। प्रामाणिकता अप्रामाणिकता का संबंध प्रथम व द्वितीय अर्थात् अंत:करणवृत्ति को जड़ स्वीकार किया गया जो स्वाभिव्यक्ति से रहित है किन्तु दूसरी ओर यह भी कहा गया कि जुड़े होते हुए भी स्वत: प्रकाश्य साक्षी चैतन्य से साक्षात संपर्क में रहने के कारण यह कभी भी अज्ञात नहीं रहती। इस प्रकार अंत:करणवृत्ति की स्वत: प्रकाश्यता मात्र Derivative अर्थ में है वह स्वयं को प्रकाशित नहीं किन्तु साक्षात रीति से बिना किसी अन्य वृत्ति के माध्यम से साक्षी द्वारा प्रकाशित होती है। यह द्वितीय अर्थात अंत:करणवृत्यावच्छिन्न चैतन्य है जिसे ज्ञान के सही अर्थ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यह अंत:करणवृत्ति की तुलना में अधिक साक्षात रीति से स्वयं को प्रकाशित करती है। वहीं दूसरी ओर अद्वैत वेदांत की दृष्टि में स्वत: प्रामाण्यवाद का तात्पर्य यह कि ज्ञान की प्रमाणिकता का ज्ञान उसी साक्षी चैतन्य द्वारा होता है जिसके माध्यम से ज्ञान होता है। अद्वैत वेदांत के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान में हमारी बुद्धि-वृत्ति इन्द्रिय के माध्यम से बाहर निकलकर विषय के आकार को धारण कर लेती है। यही विषयाकार बुद्धि वृत्ति ज्ञान है। इसका ग्रहण साक्षी चैतन्य (अंत: करण में प्रतिबिम्बित चैतन्य) द्वारा होता है तभी उस चैतन्य के द्वारा ही उसके प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है इस प्रकार जिस साधन से ज्ञान का ग्रहण होता है उसी से प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है।

जबकि अप्रामाण्य का ग्रहण परत: होता है। अप्रामाणिक ज्ञान का ग्रहण साक्षी चैतन्य से नहीं होता अपितु अन्य साधनों से होता है। अद्वैत वेदांत के प्रामाण्यवाद की चर्चा के क्रम में यह प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण है कि अद्वैत वेदांत प्रामाण्य को किस अर्थ में ज्ञान में निहित स्वीकारते हैं? अद्वैत वेदांत में प्रामाण्य को अबाधित्व और अनधिगतत्व के पदों में परिभाषित किया गया है। किन्तु इस संदर्भ में महत्वपूर्ण बात यह है कि अनधिगतता और अबाधितता दोनों का ही निश्चयन परिणामों पर निर्भर करता है यह ज्ञान में प्रारंभ से नहीं पाये जा सकते। मधुसूदन सरस्वती ने भी कहा है कि अबाधित्व का संबंध मात्र वर्तमान में ही नहीं भविष्य में बाधित होने के अभाव से है। मधुसूदन के अनुसार यद्यपि वर्तमान अबाधितता का ग्रहण ज्ञान के साथ ही किया जाता है, फिर भी यह विचार असंगत है कि प्रारंभिक रूप में प्राप्त ज्ञान भविश्य में बाधित होने योग्य न हो। अर्थात् बाध की संभावना रहती है।

विवरण प्रमाण्य को ज्ञान में अपने विषय को अभिव्यक्त करने की उस क्षमता के अर्थ में स्वीकार करते है जो ज्ञान में आंतरिक रूप से निहित है। ऐसी स्वीकारने पर यह क्षमता प्रामाणिक और अप्रामाणिक ज्ञान दोनों में समान रूप से पायी जायेगी। भ्रमात्मक अनुभव में भी अन्य अनुभवों की भांति विषय होगा और वह उसे अभिव्यक्त करेगा। इस रूप में प्रामाण्य का यह अर्थ प्रामाणिक व अप्रामाणिक ज्ञान में भेद नहीं कर सकता।

ऐसी स्वीकृति स्पष्टत: यह स्वीकारने हेतु पर्याप्त है कि बोध की किसी भी स्थिति में प्रामाणिकता का अभाव नहीं होता। इस आधार पर वेदांती यह स्वीकार कर सकते हैं कि ज्ञान की अप्रामाणिकता बाह्य परिस्थितियों से निर्धारित होती है।

इस संदर्भ में यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि क्या हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि क्या अद्वैत वेदांत के लिए प्रामाणिकता और कुछ नहीं मात्र तद्वति तत्प्रकारको में है। स्पष्टत: नहीं क्योंकि अधिकांश वेदांतविद इस बात से सहमत हैं कि तद्वति तत्प्रकारको कहना प्रामाणिक और अप्रामाणिक दोनों प्रकार के ज्ञानों में उभयनिष्ठ है ऐसी स्थिति में यह प्रामाणिकता के उस अर्थ को अभिव्यक्त नहीं करता जिसके अनुसार ज्ञान आंतरिक रूप से प्रामाणिक होता है।[5] इसी कारण तद्वति तत्प्रकारत्व के अतिरिक्त क्रिया को सफलता पूर्वक सम्पन्न करना, इस गुण को जोड़ने की बात की जाती है। किन्तु सफल क्रिया का कारण होना किसी भी स्थिति में वह लक्षण नहीं हो सकता जिसे हम ज्ञान के प्रारम्भ से ही प्राप्त करते हैं।

अद्वैतवादी संदर्भों में प्रामाण्य के वास्तविक अर्थ जिसके अंतर्गत उन्हें स्वत: प्रामाण्यवादी और परत: अप्रामाण्यवादी कहा जा सकता है, को कुछ अन्य रीतियों से भी व्याख्यायित किया जा सकता है। इस संदर्भ में दो मत उल्लेखनीय है, प्रथम गौड़ाब्राह्मानन्दी का है तो दूसरा मधुसूदन सरस्वती का। गौड़ाब्रह्मानन्दी यह बताते हुए कि अबाधितत्व को स्वीकार करने पर प्रामाण्य कभी भी स्वत: नहीं हो सकता, यह कहते हैं कि प्रामाण्य का तात्पर्य है- ज्ञान का जैसा है वैसा बने रहना इस रूप में ज्ञान सत्य है जब तक असत्य रूप में ज्ञान न हो जाय। यहाँ सत्य का मनोवैज्ञानिक निहितार्थ है यहाँ सत्य किसी व्यक्ति के असत्य संबंधी अज्ञान में निहित रहता है।[6]

मधुसूदन सरस्वती भी कहते हैं कि एकता तब तक सत्य है जब तक उसका अज्ञान से विरोध न हो इस रूप में प्रामाणिक ज्ञान वह बोध है जो अप्रामाणिक असत्य रूप में ज्ञात न हुआ हो। इस रूप में की गई प्रामाणिकता (सत्य) की व्याख्या अद्वैत वेदांत की तत्वमीमांसा से मेल भी खाती है जिसके अनुसार हमारा समस्त व्यावहारिक अनुभव अवास्तविक है, मिथ्या है। इस प्रकार व्यवहारिक अनुभव की प्रामाणिकता को तार्किक रूप में मात्र असत्यता या अप्रामाणिकता के पदों में ही परिभाषित किया जा सकता है। वेदांत द्वारा स्वीकृत यह स्वत: प्रामाण्यवाद स्वत: प्रामाण्य वाद की पूर्व वर्णित (मीमांसकों के संदर्भ में) समस्याओं से तो ग्रस्त है। साथ ही साथ वेदांत का स्वत: प्रामाण्यवाद ज्ञान को मात्र सत्य या प्रामाणिक ज्ञान के रूप में ग्रहण करने के बावजूद भी ज्ञान व छद्म ज्ञान दोनों को अपने सिद्धांत निर्माण की प्रक्रिया में स्वीकारता है यह एक विरोधाभासी स्थिति है।

इस संपूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय दार्शनिक वाड्गमय में प्रामाण्यवाद संबंधी समस्या पर विचार करने वाला कोई भी सम्प्रदाय ज्ञान की प्रामाणिकता व अप्रामाणिकता के निर्धारण हेतु किसी निर्दोष सिद्धांत की स्थापना करने में असफल रहा है। प्रत्येक में कुछ न कुछ कमियाँ अवश्य है। इस आधार पर किसी एक विचार दृष्टि का समर्थन करना उचित न होगा। इतना अवश्य है कि समेकित रूप से समस्त सिद्धान्तों से परिचित होने पर प्रामाणिकता व अप्रामाणिकता पर विचार के सभी आयामों से परिचित हुआ जा सकता है। परन्तु सभी दृष्टि कोणों की सीमितता इस बात को सोचने पर मजबूर करती है कि ज्ञान की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता ज्ञानोत्पादक सामग्री और ज्ञानग्राहक सामग्री के अभेद और भेद के अतिरिक्त भी कुछ अन्य की अपेक्षा रखती है और वह अन्य क्या है, यह भविष्य के गर्भ में है।

संदर्भ

1- प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वत: सांख्य समाश्रिता:
नैयायिकास्ते परत: सौगताचरमं स्वत:
प्रथमं परत: प्राहु: प्रामाण्यं वेदवादिन:
प्रामाण्य स्वत: प्राहु: परतचप्रमाणताम्, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ.-557
2- न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका (न्यायदर्शनम), पृ.-9
3- प्रमाणवार्तिक, धर्मकीर्ति
4- प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थिति:, प्रमाणवार्तिक 1/3
5- अद्वैतरत्नाकर्षणम, मधुसूदन सरस्वती, पृ.-29, 30
6- अद्वैतसिद्धि, मधुसूदन सरस्वती, पृ.- 351-352

असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग,
हेमवती नंदन बहुगुणा राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
नैनी, प्रयागराज
मो.नं. - 9450633512
Email: philosophy.amit@gmail.com

भारतीय दर्शन में प्रत्ययवाद की गत्यात्मक दृष्टि

- डॉ श्रुति शर्मा

- प्रो. ऋषिकांत पाण्डेय

सारांश

भारतीय दर्शन की दृष्टि सदा बाहर से भीतर की ओर उन्मुख रही है। वह तथ्यों की सतही व्याख्या के बजाय उनके मूलाधार, उनके प्रत्ययों तक पहुँचने का प्रयास करता है। यहाँ ज्ञान के साधन अमूर्त होते हैं, जो प्रत्यक्ष वस्तुओं से परे जाकर सत्य की बौद्धिक खोज करते हैं। जैसा कि कठोपनिषद में कहा गया है- 'तानि पराञ्चयेव शब्दादि-विषयप्रकाशनाय प्रवर्तन्ते' अर्थात् वे (इन्द्रियां) बहिर्मुख होकर ही शब्दादि विषयों को प्रकाशित करने के लिए प्रवृत्त हुआ करती है। किसी भी सिद्धांत को सही ढंग से समझने हेतु उसकी गत्यात्मकता अर्थात् उसके ऐतिहासिक और दार्शनिक विकास की प्रक्रिया को जानना आवश्यक होता है। प्रस्तुत शोध-पत्र में भारतीय दर्शन में प्रत्ययवाद की इसी गत्यात्मक –दृष्टि का विवेचन किया गया है। 'प्रत्ययवाद या अध्यात्मवाद' का सिद्धांत, भारतीय चिंतन परंपरा में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस अध्ययन में प्रत्ययवाद के विकास को तीन प्रमुख चरणों में बाँटकर देखा गया है, प्रारंभिक रूप में यह अवधारणा उपनिषदों में चिंतन के स्तर पर विकसित होती दिखाई देती है, द्वितीय चरण में यह महायान बौद्ध दर्शन में सुव्यवस्थित रूप से प्रतिपादित होती है, तथा तृतीय चरण में प्रत्ययवाद अद्वैत वेदांत में परिपक्व रूप में मिलता है, जिसके प्रारंभिक प्रवक्ता गौड़पाद माने जाते हैं। इस शोध में ग्रंथों के अनुशीलन पर आधारित विश्लेषणात्मक, ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक विधियों का प्रयोग किया गया है।

मुख्य शब्द- भारतीय दर्शन, प्रत्ययवाद, गत्यात्मक –दृष्टि, उपनिषद, महायान बौद्ध दर्शन, योगाचार, अद्वैत वेदांत।

भारतीय दर्शन की परंपरा में ज्ञान के स्वरूप, उसकी उत्पत्ति और साध्यता को लेकर विविध –दृष्टिकोण विकसित हुए हैं। इस व्यापक चिंतन में 'प्रत्ययवाद या अध्यात्मवाद' एक ऐसा विचार है, जो भारतीय दर्शन में किसी एक निश्चित काल या परंपरा तक सीमित नहीं रही, अपितु इसकी निरंतर गत्यात्मक विकास-यात्रा

रही है। यह यात्रा उपनिषदों की दार्शनिक गूढ़ता से आरंभ होकर महायान बौद्ध दर्शन की विचार-पद्धति से होती हुई अद्वैत वेदांत की सूक्ष्म मीमांसा तक पहुँचती है।

भारतीय दर्शन की मूल प्रवृत्ति बहिरात्म –दृष्टि को छोड़ अंतर्मुखता की ओर उन्मुख रही है। कठोपनिषद का यह कथन 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू:'[1] इस बात को इंगित करता है कि मनुष्य की इंद्रियाँ स्वभावत: बहिर्मुखी होती हैं, किंतु आत्मबोध के लिए उसे अंतर्मुखी होना पड़ता है। प्रत्ययवाद इसी अंतर्मुखी ज्ञान प्रक्रिया की एक महत्वपूर्ण विचारधारा है, जो यह मानती है कि बाह्य वस्तुओं का ज्ञान वस्तुत: आंतरिक प्रत्ययों के माध्यम से ही संभव होता है। सर्वप्रथम, प्रत्ययवाद के अर्थ की स्पष्टता को ठीक से समझते हुए, तत्पश्चात उसके दार्शनिक विकास को एक गत्यात्मक –दृष्टिकोण से देखना आवश्यक है।

पुनश्च, यह शोध पत्र प्रत्ययवाद की इस विकास यात्रा का अध्ययन तीन प्रमुख चरणों में करता है- प्रथम, उपनिषदों में इसके प्रारंभिक बीज रूप् में, द्वितीय, महायान बौद्ध दर्शन में योगाचार संप्रदाय द्वारा प्रत्यय की केंद्रीय भूमिका, तथा तृतीय, अद्वैत वेदांत में गौड़पादाचार्य द्वारा इस विचार की परिपक्व अभिव्यक्ति। इस अध्ययन में विश्लेषणात्मक, ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक पद्धतियों का उपयोग करते हुए प्रत्ययवाद की अवधारणा का सम्यक परीक्षण किया गया है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि भारतीय दार्शनिक परंपरा में प्रत्ययवाद की क्या भूमिका रही है तथा वह किस प्रकार समय के साथ विकसित होता गया।

प्रत्ययवाद के लिए सामान्यत: अंग्रेजी में 'Idealism' शब्द का प्रयोग किया जाता है। अंग्रेजी के शब्द 'Idealism'को ध्यान में रखकर तत्वमीमांसकों ने इस शब्द के तीन अथोर्ं को स्पष्ट किया है, वह या तो 'Ideal-ism'हो सकता है या 'Idea-ism' हो सकता है या 'Idealism'हो सकता है।[2] पहला 'आदर्शवाद' को इंगित करता है, दूसरे का आशय 'प्रत्ययवाद' से है एवं तीसरा अर्थ 'अध्यात्मवाद' है। उल्लेखनीय है कि अध्यात्मवाद तत्वमीमांसीय –दृष्टिकोण से सत्ता के स्वरूप पर विचार करता है। तत्वमीमांसीय – दृष्टि से यह प्रश्न विचारणीय है कि बाह्यार्थ का स्वरूप क्या है ? जड़ या चेतन। भौतिकवाद जगत की मूल सत्ता को जड़ मानता है परंतु अध्यात्मवाद के अनुसार विश्व का मूल तत्व आध्यात्मिक, चेतन और बुद्धि युक्त है। यही समस्त सृदृष्टि का आधार और उद्देश्य भी है। पुन: यह मनस को सत्य स्वीकार करता है और जड़ द्रव्य को उसकी गौण रचना मानता है।

पुन: अध्यात्मवादी 'आत्मा' को परम सत्य स्वीकार करते हैं। उनका तर्क है कि जड़ परिवर्तनशील है और जो निरंतर परिवर्तित होता रहता है, वह सत्य नहीं हो

सकता। अत: अध्यात्म तत्व 'आत्मा' ही परम सत्य है, क्योंकि वह अंतिम, नित्य तत्व, स्थायी और अपरिवर्तनशील है। इसके विपरीत प्रत्ययवाद का सिद्धांत ज्ञानमीमांसीय व्याख्या के अंतर्गत आता है। यह विषय-विषयी के संबंध की – दृष्टि से विचार करता है। इनके अनुसार 'प्रत्यय' या 'विज्ञान' ही एकमात्र सत्य है और 'प्रत्यय' से भिन्न वस्तु असत् है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो ज्ञेय ज्ञाता पर निर्भर है अर्थात् ज्ञाता से स्वतंत्र ज्ञेय की स्थिति नहीं है। उल्लेखनीय है कि एस. एन. दासगुप्ताइस संबंध में मूलसिद्धांत के रूप में 'Reality is Spiritual'[3] के अर्थ में स्वीकार करते हैं। शोध पत्र में भी इसी अर्थ में भारतीय दर्शन में 'प्रत्ययवाद' और 'अध्यात्मवाद' के अर्थ से संबंधित विवेचना प्रस्तुत की जाएगी।

ध्यातव्य है कि पाश्चात्य दर्शन में प्रत्ययवादी विचारधारा का आरंभ और विकास बड़े ही व्यवस्थित ढंग से हुआ है परंतु भारतीय दर्शन के संदर्भ में ऐसा कहना कठिन प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में एस. एन. दासगुप्ता अपनी पुस्तक 'Indian Idealism'में लिखते है - 'It is difficult to characterize the philosophy of the Upanishads either as subjective idealism or objective Idealism or as an Absolute Idealism after the model of European systems of thought.'[4]

भारतीय दर्शन में प्रत्ययवादी अवधारणा का आरंभ उपनिषदों से होता है। उपलब्ध उपनिषदों की संख्या सवा-सौ से भी अधिक है तथापि सर्वमान्य और महत्वपूर्ण उपनिषदों की संख्या अधिक नहीं है। शंकराचार्य ने ईशादि दस उपनिषदों पर ही भाष्य लिखा। निम्न श्लोकमें दस उपनिषद गिनाए गए हैं - "ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुंड-माण्डुक्य-तित्तिरी: ऐतरेय च छान्दोग्यं, वृहदारण्यकन्तथा"।[5] अर्थात मुख्य दस उपनिषद ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, माण्डुक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और वृहदारण्यक है। इस सूची में कौशीतकी, मैत्री (मैत्रायणी) और श्वेताश्वतर का नाम जोड़ देने पर मुख्य उपनिषदों की संख्या तेरह हो जाती है।इसी प्रकार की व्याख्या प्रो. उमेश मिश्र अपनी कृति भारतीय दर्शन के अंतर्गत भी करते है जहाँ वह लिखते है कि ये ही दस मुख्य एवं प्राचीन उपनिषदें मानी जाती है। सब में साक्षात् एवं परंपरा से एक मात्र तत्त्व ब्रह्म का प्रधान रूप से वर्णन है।[6]

एस. एन. दासगुप्ता अपनी पुस्तक 'Indian Idealism' में उपनिषदों में प्राप्त दर्शन की स्पष्ट व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि-'When I speak of the philosophy of the Upanishads, I do not say that the Upanishads present to us a systematic and coordinated unity of thought, nor can it be said that they were written by one person at any particular time; they are stray thoughts, which are strung together in particular groups' and their

unity is sometimes more artificial than organic. But yet, they reflect to us the philosophic culture of a particular circle ofpeople of a particular epoch; that particular type of thought does not rule out the fact that other types of thought were also current in other circles in that age. But though diverse currents of thought may be found to be watering the Upanishadic age, yet the idealistictypes are so predominant that it is possible to separate them for review.'[7]

"अर्थात् जब मैं उपनिषदों के दर्शन की बात करता हूँ, तो मेरा आशय यह नहीं है कि उपनिषद में प्राप्त दार्शनिक विचार कोई व्यवस्थित और समन्वित एकता को प्रस्तुत नहीं करते और न ही यह कहा जा सकता है कि उन्हें किसी एक व्यक्ति विशेष द्वारा किसी विशेष समय पर लिखा गया है। उपनिषद बिखरे हुए विचारों का संग्रह हैं, जिन्हें विशेष समूहों में पिरोया गया है और जिनकी एकता कभी-कभी स्वाभाविक कम और कृत्रिम अधिक दिखाई पड़ती है। फिर भी यह विशेषयुग के एक विशेषसमुदाय के दार्शनिक संस्कृति को दर्शाते हैं, तथा इन विचारों से इस तथ्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि उस युग में अन्य दार्शनिक विचार मौजूद नहीं थे। हालांकि विचार की विविध धाराएं उपनिषदीय युग को सींचते हुए पाई जाती है और फिर भी प्रत्ययवादी विचार इतने प्रबल है की इनकी अलग से समीक्षा करना संभव है"।

पुन: उनके अनुसार उपनिषदों में जिस प्रकार के विचारों का उल्लेख प्रत्ययवादी विचार के अंतर्गत किया गया है बाद के दर्शनों में उन्हें उस तरह से व्यक्त नहीं किया गया। सामान्यत: उपनिषदों में दार्शनिक स्थिति को तर्क के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास नहीं किया गया बल्कि वह अपने रहस्यमय या सहज अनुभव का आभास कराते हैं जो उनका गुप्त ज्ञान है । उपनिषदों में एक ही परम तत्व की बात हर जगह की गई है, वह परम तत्व ब्रह्म है। प्रत्येक उपनिषदों में ब्रह्म की व्याख्या भिन्न-भिन्न तरीके से की गयी है। इसी सन्दर्भ में छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म के लिए 'तज्जलान्'[8] शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् ब्रह्म वह तत्त्व है (तत्) जिससे सारा विश्व उत्पन्न होता है (ज अर्थात् जायते), जिसमें वह अंत में लीन होता है (ल अर्थात् लीयते), और जिसमें वह जीवित रहता है (अन्)- 'तज्जलान्'।

इसी प्रकार केनोपनिषद् में ब्रह्म की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि- जिसे वाणी बोल नहीं सकती, किन्तु जिसके द्वारा वाणी बोलती है। जिसे बुद्धि नहीं जान सकती, किन्तु जिसके द्वारा बुद्धि जानती है। जिसे आँखें देख नहीं सकती, किन्तु जिसके द्वारा आँखें देखती है। जिसे कान नहीं सुन सकते, किन्तु जिसके द्वारा कान सुनते है। जो स्वयं साँस नहीं लेता किन्तु जिसके द्वारा साँस लेना संभव है तुम उसी

को ब्रह्म जानो।[9] इस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि- 'ब्रह्म जिसको ज्ञात नहीं है, उसी को ज्ञात है और जिसको ज्ञात है वह उसे नहीं जानता। क्योंकि वह जानने वालो का बिना जाना हुआ है और न जानने वालो का जाना हुआ है।

"यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद स:। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।"[10]

एस. एन. दासगुप्ता इस सम्बन्ध में लिखते है कि "The fact that the ultimate reality cannot be attained by reason or by the senses, and that it may yet be grasped or realised in some other ways, reduces this conception of Brahman into a form of mysticism. The reality is neither subjective nor objective but is such that both the subject and the object drive their very existence from it. It may, therefore, be regarded as a sort of mystical idealistic absolutism.[11]

"अर्थात् चूँकि परम सत् न तो तर्क द्वारा और न ही इंद्रियों के माध्यम सेजाना जा सकता है, बल्कि उसे किसी अन्य गहन अनुभूति द्वारा ही जाना जा सकता है, इसलिए ब्रह्म की यह अवधारणा एक प्रकार के रहस्यवादी स्वरूप में ढल जाती है। परम सत् न तो केवल विषय है और न ही केवल वस्तु, बल्कि वह आधार है जिससे विषय और वस्तु दोनों का अस्तित्व उत्पन्न होता है। इसलिए इसे एक प्रकार का रहस्यवादी अध्यात्मिक निरपेक्षतावाद (Mystical idealistic absolutism) कहा जा सकता है।"

पुनश्च तैत्तिरीय उपनिषद् में भी ब्रह्म को इस जगत का कारण माना गया है। यस्माज्जातं जगत्सवर्ं यस्मिन्नेव प्रलीयते।[12] यहाँ ब्रह्म के पांच कोशों का भी वर्णन है। जहाँ ब्रह्म की तुलना प्याजके छिलकों से की गयी है। जैसे-जैसे प्याज के उपरी छिलके निकलते है वैसे-वैसे प्याज का अंदरूनी भाग साफ दिखलाई पड़ने लगता है। किन्तु जिस प्रकार प्याज छिलकों के अतिरिक्त कुछ नहीं है उसी प्रकार ब्रह्म इन कोशों (अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनंदमय कोश) के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[13]

टी. एम. पी. महादेवन लिखते है कि-"प्राचीन ऋषियों ने जो असाधारण खोज की है वह यह है कि आत्मा ही ब्रह्म है,तथा दोनों अभिन्न है।[14] उपनिषद् दर्शन में ब्रह्म का आत्मा से तादाम्य बताया गया है। विषयी और विषय, द्रष्टा और दृश्य, प्रमाता और प्रमेय दोनों में एक ही तत्त्व प्रकाशित हो रहा है और जो दोनों में व्याप्त है और दोनों के पार भी है।[15] यह अभेद 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत् त्वमसि' आदि

महावाक्यो से सिद्ध है।माण्डुक्य उपनिषद् में ब्रह्मात्मैक्य का विशद वर्णन किया गया है यथा- "सर्व ह्येतद्ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्" अर्थात यह सब ब्रह्म ही है। यह आत्मा ही ब्रह्म है। यह आत्मा चार अंशों वाला है यथा- जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। इस प्रकार ब्रह्म और आत्मा की एकाकारता विश्व की परम सत्ता के वास्तविक स्वरूप का पूर्ण रूप से साक्षात्कार कराती है। साथ ही एक आध्यात्मिक एवं अनंत सत्ता के रूप में प्रकट होती है। इस सम्बन्ध में एस. एन. दासगुप्ता लिखते है कि- 'आत्मा और ब्रह्म की तादात्म्यता में ही उपनिषद् शिक्षा का सारांश निहित है'।[16]

पुन:श्च उपनिषदों में जगत की व्याख्या का आधार भी ब्रह्म को ही स्वीकार किया गया है। जैसे मुण्डक उपनिषद् में ब्रह्म को इस व्यावहारिक जगत का कारण भी माना है तो साथ ही उसे इस विश्व से परे भी मानता है।[17] इसके साथ ही अनेक उपमाओं के साथ तुलना करके इस जगत की व्याख्या की है यथा- जिस प्रकार मकड़ी अपने पेट से जाले को उत्पन्न करती है और फिर अपने भीतर ही निगल लेती है। जैसे पृथ्वी में विभिन्न औषधियां उत्पन्न होती है तथा जैसे मनु"य के शरीर से केश और लोम उत्पन्न होते है, उसी प्रकार उस अक्षर ब्रह्म से यह विश्व प्रकट होता है।

"यथोर्णनाभि: सृजते गृह्यते च यथा पृथिव्यामोषधय: संभवन्ति।

यथा सत: पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्।[18]

अत: उपनिषदों में ब्रह्म को ही परम सत्ता या परम तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। तथापि ब्रह्म को शुद्ध आत्मा के द्वारा ही जाना जा सकता है। इस प्रकार उपनिषदों में अध्यात्मवादीतत्त्व ब्रह्म को शुद्ध आत्म तत्त्व के रूप में जानने में निहित है। जिन्हें उपनिषदों के महावाक्यो में व्यक्त किया गया है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् का 'तत्वमसि' (वह तू है), वृहदारण्यक उपनिषद का 'अहम् ब्रह्मस्मि' (मै ब्रह्म हूँ), ऐतरेय उपनिषद् का 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (प्रज्ञान ही ब्रह्म है) आदि। इस प्रकार यह चार महावाक्य आत्मा और ब्रह्म का समानाधिकरण्य है। नि"क"रत: उपनिषदीय अध्यात्मवादी–दृष्टिकोण का सार शुद्ध आत्मा को एकमात्र सत्ता के रूप में देखने में है। परिणाम स्वरूप शुद्ध आत्मा को एकमात्र सत्ता स्वीकार करने के कारण वह भौतिक जगत की सत्ता को अस्वीकार करते है। कुछ उपनिषदों में भौतिक जगत के अनुभवों को भ्रम या स्वप्न-आभास माना गया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते है कि उपनिषदों का सार इस तथ्य में निहित है कि एकमात्र परम सत् ब्रह्म ही है।यह आत्मा शुद्ध चेतन है जो शरीर, मन एवं इन्द्रियों से अलग है कुछ ऐसे ही विचार हमें एस. एन. दासगुप्ता के

इन पंक्तियों में देखने को मिलते है जहाँ वह लिखते है "The reality is no doubt a causa sui in the Upanishads, but that is not its fundamental characteristic. Its fundamental nature is regarded as being in describable and unthinkable being, the pure perceiver, the pure bliss. On the whole the central doctrine of the Upanishadic philosophy seems to be an idealism of a mystical type, in which the innermost selfis regarded ashighest reality, from which the world has somehow come into being or of which the world isa manifestation and which is also somehow to be regarded as the inner controller of all natural forces."[19]

द्वितीय चरण में प्रत्ययवादी अवधारणा का विकास बौद्ध दर्शन के महायान संप्रदाय में दिखाई पड़ता है। बौद्ध दर्शन के दो मुख्य संप्रदाय यथा- हीनयान और महायान है। हीनयान के अंतर्गत दो निकाय है- वैभाषिक और सौत्रान्तिक। वही महायान के दो निकाय- माध्यमिक-शून्यवाद और योगाचार-विज्ञानवाद। इन निकायों के वर्गीकरण का आधार जगत के अस्तित्व सम्बन्धी सिद्धांत है। अर्थात इस व्यवहारिक जगत में किसी बाह्य अथवा आंतरिक (मानसिक) पदार्थ का अस्तित्व है या नहीं। हीनयान संप्रदाय के दोनों ही निकाय बाह्य जगत एवं आंतरिक चित्त दोनों की ही स्वतंत्र सत्ता में विश्वास करते है। दोनों में मुख्य अंतर यह है कि जहाँ वैभाषिक बाह्य जगत के ज्ञान को प्रत्यक्षजन्य स्वीकार करते है वही सौत्रान्तिक उसे अनुमानजन्य स्वीकार करते है।

माध्यमिक दर्शन के सबसे महान दार्शनिक नागार्जुन थे। वह भगवान बुद्ध की ही भांति मध्यम मार्गी है। इसी आधार पर वह परम सत् की विशद व्याख्या करते हुए कहते है कि- यदि हम किसी भी वस्तु के वास्तविक स्वरूप को बुद्धि के आधार पर समझने का प्रयास करेंगे तो हमें सदैव ही मार्ग-च्युत होना पड़ेगा क्योंकि वस्तु का स्वरूप बुद्धि से परे है, अनिर्वचनीय है।[20] उनके अनुसार शून्य ही एकमात्र तत्त्व है। यह शून्य न तो सत् है, न असत् है, न सत् और असत् दोनों है और न इन दोनों से भिन्न ही है। यह बुद्धि की चतुष्कोटियों से परे एक विलक्षण तत्त्व है। अत: परम सत् अनिर्वचनीय है।

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका: विदु:।[21]

इस सम्बन्ध में एस. एन. दास गुप्ता भी लिखते है - 'The thing-in-itself, says Nagarjuna,"is as much a relative concept as all relational things that are popularly perceived to be true", that being so, it is meaningless to define perception as being only the thing-in-itself."[22] इसी प्रकार

नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव के अनुसार, माध्यमिक दर्शन का स्वयं का कोई स्वतंत्र सिद्धांत नहीं है जिसे वह प्रमाणित करना चाहते हो। यह मत न तो किसी वस्तु की वास्तविकता को स्वीकार करता है, न उसकी अवास्तविकता को, और न ही वास्तविकता तथा अवास्तविकता के मिश्रण को स्वीकार करता है। और इसी आधार पर दासगुप्ता लिखते है कि - 'Thus there isno ultimate thesis in Nagarjuna. It is, therefore, neither idealism nor realism nor absolutism, but blank phenomenalism which only accepts the phenomenal world as it is, but which would not, for a moment tolerate anykind of essence, ground or reality behind it.'[23]

यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि इस सिद्धांत का मूल विचार हमें उपनिषदों में प्राप्त होता है जहाँ याज्ञवल्क्य परम तत्त्व की व्याख्या नेति-नेति के आधार पर करते है।पुन:श्च नागार्जुन जगत की व्याख्या करने के लिए दो प्रकार के सत्य की व्याख्या करते है। पहले संवृत्ति सत्य और दूसरा परमार्थ सत्य। संवृत्ति सत्य से तात्पर्य व्यावहारिक जगत से है। वही परमार्थ सत् बुद्धि के परे, अनिर्वचनीय एवं नि:स्वभाव है। इस अवस्था में ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय आदि का भेद समाप्त हो जाता है। इस प्रकार यह प्रपंच-रहित, शांत एवं शिव-रूप है।

पुन:श्च प्रत्ययवादी अवधारणा का दूसरा रूप महायान संप्रदाय के योगाचार-विज्ञानवाद निकाय में मिलता है।बौद्ध दर्शन में प्रत्ययवादी अवधारणा की आधारशीला को स्थापित करने का श्रेय अश्वघोष को जाता है, जहाँ बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के पश्चात भी उन्होंने अपने उपनिषदों के ज्ञान के आलोक में बौद्ध धर्म की व्याख्या एक नवीन ढंग से की।इस सम्बन्ध में प्रो. उमेश मिश्रा लिखते है कि- भारतीय दर्शनशास्त्र अपने –दृष्टिकोण से चित्त को परम तत्व कहने वाला एकमात्र मत हैं विज्ञानवाद का। यही बात लंकावतारसूत्र में कही गयी हैं। चित्त की ही प्रवृत्ति तथा मुक्ति होती है। चित ही उत्पन्न होता है और चित्त का ही निरोध होता है। यही एकमात्र तत्व है। अन्य सभी वस्तुएं एक मात्र चित्त का ही विकल्प है। विज्ञान के लिए भी यही चित ज्ञाता ज्ञान तथा ज्ञेय रूप में उपस्थित रहता है। अविद्या के कारण यह भिन्न मालूम होते हैं।[24] यह आचार्य असंग के दर्शन में 'आलय विज्ञान' के रुप में तथा वसुबन्धु के दर्शन में 'विज्ञप्तिमात्रता' के रूप में परिलक्षित होता है। आचार्य असंग के अनुसार विज्ञान ही एकमात्र सत्य है और उसको छोड़ कर समस्त सताएं मिथ्या है। चेतना विज्ञान का ज्ञान ही बुद्धसम्प्रत तथता ज्ञान है, यही तत्त्व ज्ञान है।

विकल्पमात्रं त्रिभवं बाह्यमात्रं न विद्यते।
चित्तमात्रावतारेण प्रज्ञा तथागती मता।[25]

पुन:श्च आचार्य वसुबन्धु 'विज्ञप्तिमात्रता' की निरपेक्ष सत्ता को प्रतिपादित करते है। उनके अनुसार दृश्य जगत मिथ्या है। 'विज्ञप्तिमात्रता' ही एकमात्र सत् है। ("The philosophy of idealistic absolutism that was started by Maitreya and Asang and elaborated by Vasubandhu denies the existence of the external objective world and ends in affirmation of Wellness of all things.")[26] आचार्य दिङ्नाग ने अपने दर्शन में क्षणभंगवाद का सार्वभौम प्रयोग कर विज्ञानवाद को एक नया रूप प्रदान किया। उनके अनुसार बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है, वे प्रत्ययमात्र है और जो बाह्य वस्तुओं के रूप में अवभाषित होती है। पुन: आचार्य धर्मकीर्ति आचार्य दिङ्नाग के प्रत्ययवाद को विषयीनिष्ठ प्रत्ययवाद के रूप में विकसित करते है। उन्होंने 'अर्थक्रियाकारित्व' को सत् का लक्षण माना। उनके अनुसार परम सत् 'विज्ञप्ति' है जिससे बाह्य जगत की प्रतीति होती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि- योगाचार दर्शन के इतिहास में एक ही विचारधारा अविछिन्नरूप से विकसित हुई। लेखकों द्वारा प्राप्त यह युक्ति सही प्रतीत होती है कि- इस निकाय के दार्शनिकों ने दार्शनिक इतिहास की दिशा ही परिवर्तित करके सत्ता का स्थान बाह्य जगत से हटा कर मनुष्य के अंतर्जगत में स्थापित कर दिया।

भारतीय दर्शन में प्रत्ययवादी अवधारणा का अंतिम चरण हमें अद्वैत वेदांत दर्शन में प्राप्त होता है। अद्वैत वेदांत की सम्पूर्ण विचारधारा 'प्रस्थान-त्रयी' की विचारधारा पर आधारित है। 'प्रस्थान-त्रयी' के अन्तर्गत उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता है। इसका उल्लेख एस. एन. दासगुप्ता ने अपनी कृति में भी प्रस्तुत किया है, जहाँ वह लिखते है कि "The most important interpretation of Upanishadic idealism has been that of Brahmasutras as expounded by Sankara and as further elaborated by his followers.Further he says,One of the most famous of the Hindu exponents of the Upanishads that preceded Sankara, who was deeply influenced by the Buddhistic Idealism, was Gaudpada, who was probably a teacher of Sankara"[27] ब्रह्मसूत्र के आधार पर वह ब्रह्म सिद्धांत की स्पष्ट व्याख्या करते है। उनका केन्द्रीय सिद्धान्त ब्रह्म का सिद्धान्त है। बौद्ध दर्शन में जो सत्य अनिर्वचनीय और अपरिभाष्य माना गया है, उसे गौड़पादाचार्य ने आत्मा या ब्रह्म के रूप में पुनर्स्थापित करते हुए उस

अनिर्वचनीयता की समस्या को समाधान प्रदान किया। उनके अनुसार, अंतिम सत्य परब्रह्म है, जिसकी दो उपाधियाँपर और अपरमात्र प्रतीकात्मक हैं। वस्तुत: वह तत्व निराकार, नित्य और चौतन्यस्वरूप है। वही परब्रह्म समस्त प्राणियों के हृदय में ईश्वर रूप में विराजमान है। वह ब्रह्म ज्योतिर्मय है, सर्वत्र व्याप्त है, और संपूर्ण सृदृष्टि का आदि, मध्य तथा अंत भी वही है।इस प्रकारवह एक मात्र निरपेक्ष तत्त्व के रूप में ब्रह्म को ही स्वीकार करते है, जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अत: यह एक अतेन्द्रिय सत्ता है।

अद्वैत वेदांत में ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या निषेधात्मक रूप में की गयी है। उन्होंने उपनिषदों के नेति-नेति सिद्धान्त को आधार बनाया है। उनके अनुसार जीव, जगत, सृदृष्टि आदि सत्य नहीं है। ऐसा कहा जाता है कि- शंकराचार्य का दर्शन उपनिषद् दर्शन की पराकाष्ठा है। अत: उपनिषद् दर्शन की भांति शंकर भी ब्रह्म को ही एकमात्र सत् स्वीकार करते है। उनके दर्शन का मूलमंत्र है कि-

"श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ को टिभि:। ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:।[28]

अर्थात् जिसे करोड़ों ग्रंथों में कहा गया है कि उसे आधे श्लोक के माध्यम से कहा जा सकता है कि एकमात्र ब्रह्म ही सत् है, जगत मिथ्या है और जीव और ब्रह्म अलग नहीं, क्योंकि "अबाध्यत्वं लक्षणं सत्" और ब्रह्म से भिन्न होने के कारण यह प्रपंचात्मक जगत मिथ्या है।वैतथ्य प्रकरण में चौथे श्लोक की टीका में शंकराचार्य लिखते हैं कि जाग्रत अवस्था में – श्यमान भाव पदार्थ मिथ्या है क्योंकि वह दृश्य है स्वप्न में दिखने वाले भाव पदाथोर्ं की तरह।" जाग्रद् दृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा, दृश्यत्वादिति हेतु: स्वप्नदृश्यभाववदिति दृष्टांत:।"[29]

शंकराचार्य ब्रह्म को प्रतिस्थापित करने के लिए आनुभविक विधि का प्रयोग करते है। वह सत् के स्वरूप को निर्धारित करते हुए लिखते है कि- सत् वह है जो तीनों कालों में अबाधित हो। अर्थात् जो सदैव एकरूप हो- "एकरूपेण हि अवस्थितों योऽर्थ: स: परमार्थ:"।[30]ब्रह्म के लिए आत्मा शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। यह ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की व्यवहारिक त्रिपुटी से परे, इसका अधिष्ठान है। क्योंकि तर्क प्रत्येक पदार्थ को केवल विषय रूप में ही ग्रहण कर सकता है और यह विशुद्ध आत्मतत्त्व या ब्रह्म तत्त्व विषय नहीं बन सकता।

विज्ञातारमरे ! केन विजानीयात् ?[31]

शंकराचार्य जगत की व्याख्या करते हुए ब्रह्म को उसका उपादान और निमित्त कारण दोनों ही स्वीकार करते है। ब्रह्म जगत का अभिन्ननिमित्तेपादानकारण है। इस सन्दर्भ में वह ब्रह्म-विवर्तवाद की स्थापना करते है। उनके अनुसार जगत ब्रह्म की प्रतीति मात्र है। माया या अविद्या के कारण ब्रह्म जीव और जगत के रूप में प्रतीत होता है। अत: हम कह सकते है कि शंकराचार्य के अनुसार परम सत्ता (ब्रह्म) साधारण रूप से आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ समझी जाने वाली सभी सत्ताओ से ऊपर और परे है। दूसरे शब्दों में कहे तो यह दोनों ही निरपेक्ष चेतन सत्ता की ही अभिव्यक्तियाँ है या उसकी छाया मात्र है।

निष्कर्षत: प्रत्ययवाद भारतीय दर्शन की एक ऐसी विचारधारा है, जो केवल किसी विशिष्ट दर्शन-परंपरा तक सीमित नहीं, बल्कि इसकी जड़ें उपनिषदों की रहस्यात्मक अनुभूतियों से लेकर महायान बौद्ध योगाचारों की विश्लेषणात्मक पद्धति और अद्वैत वेदांत की तात्त्विक मीमांसा तक फैली हुई हैं। यह दर्शन आत्मा और ब्रह्म जैसे अध्यात्मवादी सत्यों की ओर इशारा करता है, फिर भी वह ज्ञानमीमांसीय प्रश्नों के संदर्भ में वस्तु और चेतना के संबंध को नए ढंग से समझने का प्रयास करता है।यह शोध स्पष्ट करता है कि प्रत्ययवाद भारतीय दर्शन में एक स्थिर संप्रत्यय नहीं, बल्कि निरंतर विकसित होती एक गत्यात्मक विचारधारा है, जो समय-काल और दर्शनों के अनुसार विविध रूपों में अभिव्यक्त हुई है। उपनिषदों में जहाँ यह रहस्यमय अन्तर्ज्ञान के रूप में प्रकट होता है, वहीं योगाचार में प्रत्ययों की बौद्धिक निर्मिति के रूप में इसकी सुस्पष्ट अवधारणा मिलती है, और अद्वैत वेदांत में यह अद्वितीय आत्मबोध की चरम परिणति के रूप में –दृष्टिगत होता है।

इस प्रकार, प्रत्ययवाद की यह विकास यात्रा भारतीय ज्ञान परंपरा की अंतर्मुखी प्रवृत्ति और चेतना-केंद्रित –दृष्टिकोण को रेखांकित करती है। यह दर्शन न केवल ज्ञान और सत्ता के बीच संबंध को पुनर्परिभाषित करता है, अपितु यह भी दर्शाता है कि ज्ञेय और ज्ञाता के मध्य का सेतु प्रत्यय ही है जो समस्त ज्ञान को संभव बनाता है। अत: प्रत्ययवाद का यह अध्ययन भारतीय दर्शन में एक अत्यंत महत्वपूर्ण विमर्श के रूप में देखा जाना चाहिए, जो आज भी तात्त्विक और ज्ञानमीमांसीय संदर्भों में प्रासंगिक बना हुआ है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1- कठोपनिषद सानुवाद शंकरभाष्यसहित (2008), द्वितीय अध्याय, प्रथम वल्ली, श्लोक घ, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ. 104

2- लाल, बी. के. (2001) समकालीन भारतीय दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृष्ठ 5.

3- Dasgupta, S. N.(1933): "Indian Idealism," Cambridge University Press, Cambridge, p. 27.

4- Ibid, context, p. xii.

5- देवराज, एन. के. (1941) भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, पृष्ठ 55

6- मिश्र, उमेश (2014) भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिंदी संसथान, लखनऊ पृष्ठ 52

7- Dasgupta, S. N. (1933): "Indian Idealism," Cambridge University Press, Cambridge, p. 27-28.

8- छान्दोग्य उपनिषद, तृतीय परिछेद, श्लोक 14

9- शर्मा, सी. डी. (2004)भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ"ठ 12

10- केन उपनिषद, श्लोक 2-3

11- Dasgupta, S. N. (1933): "Indian Idealism," Cambridge University Press, Cambridge, p. 31

12- तैत्तिरीय उपनिषद, श्लोक 3-1

13- पाण्डेय, संगम लाल (2002) भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृष्ठ 39.

14- Dasgupta, S. N. (2000): 'History of Indian Philosophy, Vol. 1, Motilal Banarsidass Publisher, Varanasi, p. 45.

15- शर्मा, सी. डी. (2004) भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृष्ठ 10

16- Mahadevan, T. M. P. (2011) "The Philosophy of Advait," Bhartiya Kala Prakashan, Delhi, p. 179.

17- एस्मात् जायते प्राणो मन: सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायु: ज्योतिराप: पृथिवी विश्वश्य धारिणी।

18- मुण्डक उपनिषद, प्रथम मुण्डक, श्लोक 7

19- Dasgupta, S. N. (1933): "Indian Idealism," Cambridge University Press, Cambridge, p.54-55.

20- पाण्डेय, संगम लाल (2002) भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृष्ठ 152

21- मिश्र, उमेश (2014) भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिंदी संसथान, लखनऊ पृष्ठ166

22- Dasgupta, S. N. (1933): "Indian Idealism," Cambridge University Press, Cambridge, p.78

23- Ibid, p. 79.

24- मिश्र, उमेश (2014) भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिंदी संसथान, लखनऊ पृष्ठ 163

25- वैद्य. पी. लंकावतारसूत्र, पृष्ठ 46

26- Dasgupta, S. N. (1933): "Indian Idealism," Cambridge University Press, Cambridge, content, p. xvi

27- Ibid, p. 149

28- स्वामी सत्यानानंद सरस्वती, ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्यम्, पृष्ठ 15

29- देवराज, एन. के. (2002) भारतीय दर्शन ऐतिहासिक और समीक्षात्मक विवेचन उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृष्ठ 502

30- ब्रह्मसूत्र भाष्य, 2'1'11

31- बृहदारण्यक उपनिषद, 2'4'14

डॉक्टरलफेलो,
दर्शनशास्त्र विभाग, इ.वि.वि.
प्लॉट नंबर 16, शिवास्थली, चक-हीरानन्द,
ए.डी.ए. रोड, नैनी, प्रयागराज,
पिन-211008
ईमेल-shrutisharma34567@gmail-com
मो. नं.-8601792747

भारतीय ज्ञान परम्परा की अवधारणा एवं महत्त्व

- डॉ. ऋषिका वर्मा

सारांशिका :- भारतीय ज्ञान-परम्परा हजारों वर्ष पुरानी है। इस ज्ञान परम्परा में आधुनिक विज्ञान प्रबंधन सहित सभी क्षेत्रों के लिए अद्‌भुत खजाना है। भारतीय दृष्टिकोण से ही ज्ञान परम्परा का अध्ययन कर हम एक बार फिर विश्व गुरू बन सकते हैं। हमें अपनी मानसिकता को बदलकर अपने जीवन में भारतीयता को अपनाने की जरूरत है। पश्चिम के विकासवादी मॉडल को छोड़कर ही हम दुनिया में खुशहाली ला सकते हैं।

वैज्ञानिक विकास के चरम की वर्तमान सदी भौतिकता की पराकाष्ठा पर है। ऐसा होने से वैज्ञानिक अविष्कारों के फलस्वरूप मानव का जीवन भौतिक रूप से सरल किन्तु नैतिक तथा आध्यात्मिक रूप से निम्नतम अवस्था में जाने के कारण जटिल हो गया है। मानव मानसिक एवं नैतिक समस्याओं के पाश में निबद्ध है; जिससे वैश्विक परिदृश्य में अनेक सामाजिक समस्याएँ आज चिंता का विशय है। आज मानव समाज पर आतंकवाद, युद्ध, अशांति, असुरक्षा, वैमनस्य, अपराध, चोरी, हिंसा, वर्ग-संघर्ष, विभेद, शोषण, बलात्कार एवं अत्याचार आदि जैसे संकट हैं। इनके मूल में मानव की असीम भौतिक इच्छाएँ तथा उसका चारित्रिक पतन है। आज पुन: उन मूल्यों के अनुगमन की आवश्यकता है; जिनके द्वारा भारतीय ज्ञान-परम्परा में विश्व-कल्याण का पथ प्रशस्त किया गया है। आज पुन: 'सर्वे भवन्तु सुखिन:; सर्वे सन्तु निरामया।[1]... जैसी मंगलकामनाओं से युक्त भारतीय ज्ञान परम्परा को समझने एवं उसमें निहित नैतिक मूल्यों को अपनाने से ही विश्व-कल्याण संभव है।

प्रस्तावना

किसी भी सभ्यता या संस्कृति का उत्थान-पतन उसकी आर्थिक स्थिति और राजनैतिक स्थिति नहीं होती बल्कि ज्ञान परम्परा होती है। भारतीय

---

1 बृहदारण्यक उपनिषद्, 1/4/14

संस्कृति ने हमेशा ही ज्ञान परम्परा को महत्त्व दिया है। चिन्तन की प्राचीन परम्परा 'उपनिषद्' अर्थात् गुरू के पास बैठकर अज्ञान की स्थितियों को नष्ट कर ज्ञान को निरन्तर संवाद द्वारा पाने की परम्परा रही है।[1] भारतीय ज्ञान परम्परा का सबसे बड़ा आधार वेद है। ज्ञान का यह स्वरूप तर्कमूलक, मूल्यनिष्ठ और आचरण सापेक्ष है, जिज्ञासामूलक है और सामाजिक उद्देश्यों से बंधा हुआ है। चिन्तन का अर्थ यहाँ मुक्तकामी है। मुक्ति का तात्पर्य यहाँ रूढ़ अर्थों में आध्यात्मिक मुक्ति नहीं है, बल्कि सब प्रकार के बंधनों से मुक्ति है। 'सा विद्या या विमुक्तये'[2] अर्थात् विद्या वह नहीं जो बांधती है, बल्कि वह है जो मुक्त करती है। बौद्ध चिन्तन-परम्परा में भी "विषय के अनुभव और मानवीय विवेक को ही प्रमुखता दी गयी है। बुद्ध का कहना है कि मनुष्य की बुद्धि परीक्षणात्मक होनी चाहिए। उसे किसी के कहे पर पूरा विश्वास न करके स्वयं उस बात या तथ्य को परखना चाहिए।[3] चिन्तन के मूल्यनिष्ठ लोकवादी पक्ष की यह धारा वेदों, उपनिषदों, महाकाव्यों (रामायण और महाभारत) तथा बौद्ध ग्रन्थों से आगे बढ़ती हुई धर्मशास्त्रों तक चली आयी है। इनमें सामाजिक और पारिवारिक मूल्यों की शिक्षा दी गई है।

पेपर का मुख्य भाग :- भारतीय ज्ञान-परम्परा हजारों वर्ष पुरानी है। इस ज्ञान परम्परा में आधुनिक विज्ञान प्रबंधन सहित सभी क्षेत्रों के लिए अद्भुत खजाना है। भारतीय दृष्टिकोण से ही ज्ञान परम्परा का अध्ययन कर हम एक बार फिर विश्व गुरू बन सकते हैं। हमें अपनी मानसिकता को बदलकर अपने जीवन में भारतीयता को अपनाने की जरूरत है। पश्चिम के विकासवादी मॉडल को छोड़कर ही हम दुनिया में खुशहाली ला सकते हैं।

प्राचीन भारतीय चिन्तन-पद्धति के अनुसार सब मतों, सिद्धान्तों और दर्शनों को एक साथ रहने-सहने और फलने-फूलने की पूरी सुविधा है लेकिन सबका दृष्टिकोण परीक्षणात्मक होना आवश्यक है। उपनिषदों में 'एषणा' और बौद्ध शासन में 'पर्येषणा' को बहुत महत्त्व दिया गया है। असंग ने लिखा है कि 'ज्ञेय केवल परीक्षणीय' है। वसुबन्धु कहते हैं कि विद्या और अविद्या दोनों सत्य के प्रति दो दृष्टिकोण हैं, जिनका अपना-अपना अस्तित्त्व हैं। अत: अविद्या को विद्या का अभाव मात्र न मानकर सत्य तक पहुंचने का एक मार्ग

---

1 डॉ. राजकुमार भार्मा, भारतीय चिन्तन-सृजन का प्रगितकामी मानवीय पक्ष, प्रकाशन वर्ष, 2009, राजनगर गाजियाबाद, पृ. सं. 15

2 विष्णु पुराण, 1/19/41

3 दीर्घ निकाय, 1/13

मानना चाहिए और उसके आलोक में जिसे हम विद्या कहते हैं, उसका और गहरा परीक्षण करना चाहिए। इस प्रकार का परीक्षणात्मक दृष्टिकोण ही वैज्ञानिक कहलाता है।

भारतीय ज्ञान-परम्परा के अनुसार परीक्षण और अनुसंधान के फलस्वरूप मनुष्य आज तक जिस निष्कर्ष पर पहुंचा है वह यह है कि विश्व में जो समन्वय व्याप्त है उसको उसे अपने पारस्परिक सम्बन्धों में अनूदित कर समाज का रूप देना है और अपनी वैयक्तिक चर्या में अवतीर्ण कर नीति का रूप देना है। इस प्रकार विश्व समाज और व्यक्ति एक ही विराट समन्वय के विभिन्न स्तर हैं। इनके भीतर समन्वय का भेद गुणात्मक नहीं, परिमाणात्मक है। इससे विश्व अवयवित्व की सिद्धि होती है और लगता है संसार, समाज और मनुष्य एक ही शरीर के अंग हैं जिनमें से प्रत्येक एक-दूसरे को प्रभावित करता है और एक-दूसरे की क्रिया को प्रतिबिम्बित करता है। इनमें पृथकता होते हुए भी सहयोग करता है, स्वतन्त्रता होते हुए भी परस्पराश्रितता रहती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय ज्ञान परम्परा व्यक्ति को संवादमूलक, विवेकमूलक, ऐच्छिक ओर मूल्यनिष्ठ बनाने पर बल देती रही है। उसक जोर व्यक्ति और समाज के विकास के अनुकूल बन कर व्यक्ति के भीतर की असीम सृजनात्मक शक्ति को तर्कमूल मानवीय दिशा देने पर है। भारतीय ज्ञान परम्परा व्यक्ति को सामाजिक रूप से सजग, चेतन और रेस्पोंसिव, जीवंत सक्रियता में ढालती है।

इस तरह से यह संवादमूलक और मूल्यनिष्ठ चिन्तन-दृष्टि एक सामाजिक शक्ति का रूप लेती हुई सामाजिक परिवर्तन का एक अहम और अनिवार्य हिस्सा बनती रही है। चिंतन की इसी प्रगति का भी, मानवीय सोच के चलते भारतीय संस्कृति एक उदार, सहिष्णु समावेशी और सामाजिक परिप्रेक्ष्य से नियंत्रित रही है, जिसने वैचारिक ही नहीं बल्कि व्यवहार के स्तर पर विविधताओं में एकता का वह आन्तरिक सामरस्य पाया है जिसे देखकर दुनिया के लोग सदियों से चकित रहे हैं।

आधुनिकता का केन्द्र मनुष्य है, कोई अतीन्द्रिय परमतत्त्व नहीं जिसके अनुसंधान में जीवन व्यतीत करना किसी समय सार्थकता का चिन्ह माना जाता था। अतएव आधुनिकता लौकिक मूल्यों से ओत-प्रोत है। धार्मिक या अतीन्द्रियता सम्बन्धी मूल्यों की अवहेलना इस युग की विशिष्टता है। आज ईश्वर से सम्बन्धित समस्याओं के स्थान पर मानव के समक्ष मानवीय

समस्यायें हैं। हम ईश्वर को जानने या उसे तकोर्ं द्वारा प्रतिष्ठित करने का प्रयास नहीं करते है। आज का प्रश्न है मनुष्य क्या है? उसका ढांचा, लक्ष्य अवस्था, परिस्थिति तथा भाग्य क्या है? इन सभी प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए अस्तित्ववादी सत्ता को प्रमाणित करने के लिए प्रयुक्त होती थी। उसका प्रयोग अब मनुष्य के अस्तित्व के व्यवहारिक रूप को प्रमाणित करने में किया जाता है।

सदा से दर्शन शास्त्र का लक्ष्य मनुष्य जीवन के रहस्य को उद्घाटित करता रहा है। मनुष्य का दृश्य जगत् के साथ सम्बन्ध प्रच्छन्न सा रहता हैं मनुष्य जगत् में क्यों आया है, उसे क्या करना है, तथा उसका भविश्य क्या है, ये सभी प्रश्न उत्तरापेक्षी है। इनका कोई स्थायी समाधान प्राप्त नहीं हुआ है। यह सत्य है कि जिस मनुष्य ने सृष्टि के श्रेष्ठ निदर्शन के रूप में अपने आपको पाया हैं उसने एक श्रेष्ठतम तत्त्व के अस्तित्व में सहज आस्था का अनुभव किया है। मनुष्य जीवन की पृष्ठभूमि दिव्य है, इस विश्वास में शताब्दियों तक सन्देह नहीं था। इस दिव्यता को समझने का प्रयास और उसको मनुष्य जीवन में प्राप्त करने का उपाय, यही दर्शन के अनुशीलन का विषय है।

संसार की सारी विद्याऐं मनुष्य की जीवन में अभिरूचि की द्योतक हैं। दर्शनशास्त्र का तो मुख्य विषय ही जीवन है। एक दार्शनिक जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डालना चाहता है। जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन करना ही दर्शनशास्त्र का काम है। लेकिन जब हम जीवन पर नियमपूर्वक विचार करना आरंभ करते हैं, तब हमें मामूम होता है कि जीवन को समझने के लिए केवल जीवन का अध्ययन ही काफी नहीं है। जिस जीवन को हम समझना चाहते हैं, वह मनुष्य का या स्वयं अपना जीवन है। परन्तु वह जीवन संसार की दूसरी वस्तुओं से सम्बद्ध है। हम पृथ्वी के ऊपर रहते हैं और आकाश के नीचे, हम हवा में सॉस लेते हैं और जल तथा अन्न से निर्वाह करते हैं। हमारे जीवन और पशुओं के जीवन में बहुत बातों में समता है, बहुत में विशमता। जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं, वह सौर-मण्डल का एक भाग है, वह सौर-मण्डल भी करोड़ों-तारों, ग्रहों और उपग्रहों में एक विषेश स्थान रखता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि मनुष्य जैसा छोटा प्राणी पृथ्वी से हजारों गुने सूर्य और सूर्य से लाखों गुने विशाल नक्षत्रों की गति, ताप और परिणाम पर विचार करता है। इस विराट ब्रह्माण्ड में, इस देखने में छोटे, तुच्छ, मनुष्य का क्या स्थान है? यह निर्णय करना दर्शनशास्त्र की मुख्य समस्या है। विश्व-ब्रह्माण्ड के रंगमंच पर यह रोने-हँसने, सोचने और

विचारने वाला मनुष्य नामक प्राणी जो किरदार निभा रहा है, उसका विश्व-ब्रह्माण्ड के ही दृष्टिकोण से क्या महत्त्व है? यही दार्शनिक जिज्ञासा का महत्त्व है।

भारतीय दर्शन का प्रारम्भ वेदों से होता है। वेद भारतवर्ष की, और कदाचित् संसार की प्राचीनतम् साहित्यिक संपत्ति है। वेद संख्या में चार है- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ऋग्वेद इनमें से सबसे प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण है। यजुर्वेद में यज्ञों की प्रधानता है। सामवेद संगीत प्रधान है। अथर्ववेद में जादू-टोना, मंत्र-तंत्र आदि का बाहुल्य है। वैदिक परम्परा का विकास चार चरणों में हुआ है, जिन्हें वेद के चार भाग कहा जाता है। प्रथम चरण मंत्रभाग या संहिता-भाग कहलाता है। द्वितीय चरण ब्राह्मण-भाग तथा तृतीय चरण आरण्यक कहा जाता है। ये तीनों वेद के कर्मकाण्ड हैं, क्योंकि इनमें कर्म, यज्ञ, दान, संस्कार आदि की प्रधानता है। चतुर्थ अथवा अंतिम भाग उपनिषद् कहलाता है। ज्ञान-प्रधान होने के कारण उपनिषदों को वेदांत भी कहते हैं। उपनिषदों से ही अधिकतर भारतीय दर्शनों का विकास माना जाता है।

अपनी-अपनी प्रतिभा और संस्कृति की विशेषता के कारण प्रत्येक देश के दर्शन की कुछ अपनी विशेषतायें हैं। भारतीय दर्शन अत्यन्त प्राचीन है। हमारे वेद उस प्राचीनतम ज्ञान-राशि के भण्डार है। हमारे पूर्वज ऋषियों द्वारा अनुभूत अनेक अखण्ड और नित्य सत्यों का उनमें संनिधान है। श्रुति की मान्यता के साथ-साथ स्वतंत्र चिंतन को सदा प्रोत्साहन मिलता रहा तथा अनेक दर्शन सम्प्रदायों का उदय और विकास हुआ। इन संप्रदायों की विविधता में कुछ सिद्धान्तों का भी विरोध अवश्य है किन्तु उनका मूल आत्मा एक है। समस्त दर्शनों में नैतिक उद्देश्य और सांस्कृतिक दृष्टिकोण की सामान्य एकता है। जीवन के परमार्थ और उसकी प्राप्ति के साधनों की खोज सभी दर्शनों का सामान्य लक्ष्य है।

वैज्ञानिक विकास के चरम की वर्तमान सदी भौतिकता की पराकाष्ठा पर है। ऐसा होने से वैज्ञानिक अविष्कारों के फलस्वरूप मानव का जीवन भौतिक रूप से सरल किन्तु नैतिक तथा आध्यात्मिक रूप से निम्नतम अवस्था में जाने के कारण जटिल हो गया है। मानव मानसिक एवं नैतिक समस्याओं के पाश में निबद्ध है; जिससे वैश्विक परिदृश्य में अनेक सामाजिक समस्याएँ आज चिंता का विषय है। आज मानव समाज पर आतंकवाद, युद्ध, अशांति, असुरक्षा, वैमनस्य, अपराध, चोरी, हिंसा, वर्ग-संघर्ष, विभेद, शोषण,

बलात्कार एवं अत्याचार आदि जैसे संकट हैं। इनके मूल में मानव की असीम भौतिक इच्छाएँ तथा उसका चारित्रिक पतन है। आज पुन: उन मूल्यों के अनुगमन की आवश्यकता है; जिनके द्वारा भारतीय ज्ञान-परम्परा में विश्व-कल्याण का पथ प्रशस्त किया गया है। आज पुन: 'सर्वे भवन्तु सुखिन:; सर्वे सन्तु निरामया।[1]... जैसी मंगलकामनाओं से युक्त भारतीय ज्ञान परम्परा को समझने एवं उसमें निहित नैतिक मूल्यों को अपनाने से ही विश्व-कल्याण संभव है।

उल्लेखनीय है कि भारतीय ज्ञान परम्परा भारतीय दर्शन में ही समाहित है। कौटिल्य का कथन है कि दर्शन (आन्वीक्षिकी-दर्शन) अन्य सब विषयों के लिए प्रदीप का कार्य करता है। यह समस्त कार्यों का साधन और समस्त कर्तव्यों का मार्गदर्शक है। दर्शन का अर्थ है- 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्'[2] अर्थात् वह प्रक्रिया जिसके अन्तर्गत देखा जाए अर्थात् विश्लेषण, चिन्तन या मनन किया जाए। चिन्तन की एक संज्ञा मीमांसा भी है। मीमांसा का अर्थ है- गहन विचार, परीक्षण एवं अनुसंधान आदि। इस दृष्टि से ज्ञान-परम्परा का दार्शनिक चिंतन तीन अनुभागों में वर्गीकृत है- तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं नीतिमीमांसा। इनके क्रमश: सत्, प्रकाश एवं अमरत्व, ये तीन लक्ष्य के रूप में निरूपित किये गये हैं। सत् या तत्त्व सृष्टि का मूल कारण, ज्ञान या प्रकाश, उस सत् को जानने की प्रक्रिया तथा अमरत्व या परमशुभ हेतु निर्धारित आचरणगत नियम या नीति; ये तीनों ही भारतीय ज्ञान परम्परा का सार है। भारतीय वांग्मय में मानव-जीवन के भी ये तीन लक्ष्य ही निरूपित है। भाव यह है कि ज्ञान एवं नीति के द्वारा व्यक्ति सत् की खोज करें। यही भारतीय ज्ञान परम्परा में निर्देशित है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय चित् या चेतना की उच्चतम अवस्था तक उन्नति के पथ का समर्थक रहा है। ज्ञान मात्र भौतिक जीवन को सुखी बनाने हेतु नहीं; अपितु वह है जो शरीर में निबद्ध चेतना को ब्रह्माण्डीय चेतना के स्तर पर प्रतिष्ठित करें। भारतीय ज्ञान परम्परा के सार माने जाने वाले उपनिषदों में से एक मुण्डक उपनिषद् में ज्ञान का स्पष्ट एवं उत्कृष्ट वर्गीकरण किया गया है। यह वर्गीकरण इतना उच्चस्तरीय है कि संसार की किसी भी सभ्यता में ऐसा विवेचन प्राप्त नहीं होता।

---

1 बृहदारण्यक उपनिषद, 1/4/14

2 डॉ. एस. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन भाग एक, पृ. सं. - 21

इस उपनिषद् में मनुष्य जीवन के समस्त ज्ञान को विद्या कहा गया है। इसे दो भागों में विभाजित किया गया है- अपरा विद्या एवं परा विद्या।[1] मुण्डक उपनिषद् में एक प्रसंग है कि शौनक ऋषि के पूछने पर महर्षि अंगिरा बोलें कि मनुष्य के लिए जानने योग्य दो विद्याएँ हैं- अपरा विद्या एवं परा विद्या। जिसके द्वारा इस लोक तथा परलोक संबन्धी भोगों की स्थिति, रचना तथा नानाविधि उनकी प्राप्ति हेतु साधनों का ज्ञान प्राप्त किया जाए वह सभी प्रकार का ज्ञान अपरा विद्या में आता है। परा विद्या, ब्रह्म विद्या या अध्यात्म विद्या वह है, जिसमें उपर्युक्त सभी लौकिक ज्ञान के स्थान पर ब्रह्म अर्थात् जगत् के मूल कारण का ज्ञान हो। वस्तुत: परा विद्या एवं अपरा विद्या का वर्गीकरण आध्यात्मिक ज्ञान एवं व्यवहारिक ज्ञान के रूप में किया गया है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि गणित एवं तकनीकि के ज्ञान द्वारा व्यक्ति, भौतिक सुख-सुविधाओं के साधनों का अविष्कार तो कर सकता है; किन्तु भौतिक सुख-सुविधाओं द्वारा आत्मिक शांति प्राप्त नहीं होती। आत्मिक शांति की प्राप्ति हेतु आवश्यक है- व्यवहारिक जीवन को सुव्यवस्थित करते हुए आत्मज्ञान हेतु निरन्तर प्रयास करना। इस आवश्यकता का प्रतिपादन उपनिषद् साहित्य में भी एक प्रार्थना के माध्यम से किया गया है; जिसमें कहा गया है कि है परमात्मा! हमें असत् से सत् की ओर ले चलो, अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो एवं मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो।

असतो मा सद्गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्माऽमृतं गमय।[2]

निष्कर्ष :- जब तक संस्कृत हमारे ज्ञान की भाषा थी, तब तक हम दुनिया में विश्व गुरु बने रहें। जैसे ही हमने अंग्रेजी का पीछा किया, हम चीजों को पश्चिम के दृष्टिकोण से ही समझने लगे। अब समय आ गया है कि हमारी युवा पीढ़ी को अंतर विषयक भारतीय पारम्परिक ज्ञान के लिए प्रोत्साहित किया जाए। वे आधुनिक विज्ञान के साथ प्राचीन ग्रन्थों का भी अध्ययन करें। अंग्रेजी के साथ संस्कृत को भी पढ़ें, ताकि भारतीय दृष्टिकोण से

1 मुण्डक उपनिषद

2 बृहदारण्यक उपनिषद, 1/3/28

विज्ञान, आधुनिक प्रबंधन को समझ सकें। आर्यभट्ट, चरक ऋषि, कणाद ऋषि, नागार्जुन, हर्षवर्धन, अगस्त्य ऋषि, भारद्वाज ऋषि जैसे सैकड़ों महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने अपने ज्ञान से विश्व की ज्ञान-परम्परा को समृद्ध किया है। अत वैश्विक स्तर पर भारतीय ज्ञान परस्परा का अध्ययन एवं प्रचार-प्रसार होना अपेक्षित है।

Assistant Professor
Department of Philosophy
Hemavati Nandan Bahuguna Garhwal University
Srinagar (Garhwal) Uttarakhand-246174
email Id: rishika.verma75@gmail.com
Mobile No. 9335663975

सामाजिक दायित्व की जागृति

- डॉ. रंजना शर्मा

यजुर्वेद के नौवें अध्याय की 23 वीं कंडिका मे लिखा गया है ''वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिता:'' अर्थात् ''हम पुरोहित राष्ट्र को सदैव जीवंत और जागृत बनाये रखेंगे।'' पुरोहित का अर्थ है जो इस पुर का हित करता है। पुर से अभिप्राय नगर व स्थान से है अर्थात् जो जिस जगह रहता है उस स्थान का हित व कल्याण करता है, उसके बारे में, उसके कल्याण के बारे में सोचता है। प्राचीन काल में उन सभी व्यक्तियों को पुरोहित कहा जाता था जो राष्ट्र कल्याण के लिए चिन्तन द्वारा दूरदृष्टि अपनाकर राष्ट्र (स्थान) की समृद्धि, गौरव, आत्मीयता, कल्याण व हित के लिए व्यवस्था स्थापित करता था जिसमें उस स्थान के सभी व्यक्तियों का कल्याण अन्तर्निहित होता था। स्थान विशेष की संकुचित दृष्टि नहीं होती थी, ''धरती माता'' कहा जाता था तथा ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की अवधारणा होती थी। कल्याण की सोच वसुधैव कुटुम्ब की होती थी। धरती पर रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए कल्याण-चिंतन होता था।

पुरोहित मनुष्य के दूरगामी हित को समझकर, दूरदर्शिता के साथ मनुष्य के कल्याण की व्यवस्था करता था। अत: पुरोहित में चिंतक और साधक दोनों के गुण होते थे। चूंकि पुरोहित साधक व चिंतक दोनों होता था इसलिए वह सही परामर्श लोगों को देता था, उन्हें सही मार्ग पर ले जाकर मानव कल्याण को व्यवस्था में स्थापित करता था। लोगों में जागृति लाता था, लोगो की रक्षा करता था। जन-जागरण का महान कार्य वह तभी कर पाता था जब उसका स्वयं का अन्त:करण जागृत होता था। इसलिए वह साधक व चिंतक दोनों होता था।

साधक के रूप में श्रवण, मनन, निदिध्यासन का अभ्यास होता था। सबसे पहले सुनना, तत्पश्चात मनन करना फिर उसे आचरण में प्रतिपल शामिल करना। बौद्ध धर्म का अष्टांगिक मार्ग जैन धर्म का पंचमहाव्रत यम, नियम, आसन के द्वारा इस उच्च स्तर तक पहुंचा जा सकता है। इस स्तर तक पहुंचना ही साधना है। चित्त की शांत अवस्था ही साधक का लक्ष्य है

क्योंकि तभी सब सही तरीके से सुनाई व दिखायी देता है।

कबीर दास जी कहते हैं कि सुनता है ''गुरू ज्ञानी, ज्ञानी ज्ञानी गगन में आवाज हो रही है **झीनी, झीनी, झीनी**।।'' जो ज्ञानी होता है वही सुनता है, धीमी से धीमी आवाज भी वह सुन लेता है। सबसे पहले सुनने की क्षमता विकसित करती है, जिसमें सब सुनाई दे सबकी आवाज सुनायी दे, धीमी से धीमी आवाज सुनाई दे। यह भी साधना द्वारा ही ज्ञानी सुन पाता है, साधक होकर ही जान पाता है। ऐसा ज्ञानी साधक ही समाज में अग्रणी होता है उसी में समाज को आगे ले जाने का सामर्थ्य होता है इसीलिए उसे पुरोहित कहते हैं। उसे अपने पर पूर्ण विश्वास होता है कि वह मनुष्य का, समाज का कल्याण करेगा और ईश्वर भी उसे इस कार्य में मदद करेगा। वह प्रत्येक व्यक्ति के अच्छे कर्मो के फल को सुनिश्चित कर सकेगा। अच्छे कर्म करने वाला प्रत्येक मनुष्य अच्छे फल प्राप्त कर आनंदमय जीवन व्यतीत करेगा। साधक अपने जीवन में सत्य अहिंसा, प्रेम, दया, करूणा को अपनाता है।

चिंतक के रूप में वह चिंतन करता है कि मानव व समाज के लिए कल्याणकारी क्या है। वह वर्तमान में रहने वाला जागृत व्यक्ति है जो सबके प्रति संवेदनशील है, जो सबको समभाव से देखता है जो सबमें अपने को व अपने में सबको देखता है, जो सबमें ईश्वर को ब्रह्म को देखता है। अतीत व भविष्य मे रहने वाला व्यक्ति कभी जागृत नहीं रहता, केवल वर्तमान में रहने वाला व्यक्ति ही जागृत होता है। अत: वसुधैव कुटुम्बकम् को मानने वाला, धरती माता को मानने वाला व्यक्ति इसी दृष्टिकोण से मानव कल्याण, समाज कल्याण के बारे में सोचता है। राष्ट्रमें जागृति लाना अर्थात् समाज में जागृति लाना है लोगों में जागृति लाना है, ये जागृति सामाजिक दायित्व के प्रति लोगों में जागृति लाना है, जनकल्याण के प्रति लोगो में जागृति लाना है। जो स्वयं जागृत होगा वही दूसरों को भी जागृत कर सकेगा जो स्वयं अंन्त: करण से जागृत होगा वही दूसरो को भी अंत:करण से कर सकेगा जागृत कर सकेगा। हम पुरोहित अर्थात हम जागृत मानव ही जन कल्याण कर सकते है। जब मानव का कल्याण, जन का कल्याण सुरक्षित होगा तभी राष्ट्र व समाज का कल्याण भी सुरक्षित होगा।

भारतीय दर्शन में मोक्ष प्राप्त व्यक्ति सर्वमोक्ष के लिए प्रयत्नशील होता है। सबके कल्याण के लिए, सर्वहित के लिए, निष्काम भाव से कर्म करता

है। महात्मा बुद्ध महावीर जैन, शंकराचार्य आदि सभी मोक्ष प्राप्त व्यक्ति हैं। इन सभी ने यह बताया कि व्यक्ति कैसे व्यक्तिगत कल्याण से सार्वजनिक कल्याण की ओर अग्रसर हो सकता है, इसके लिए इन्होंने ज्ञान के साथ कर्म को भी आवश्यक माना व कर्म मार्ग का प्रतिपादन अपने विचारों के साथ-साथ किया। जैन दर्शन मे पंचमहाव्रत, बौद्व दर्शन में अष्टांगिक मार्ग व वेदांत मे साधन चतुष्टय व श्रवण-मनन-निदिध्यासन को ज्ञान के लिए आवश्यक बताया गया। पंच महाव्रत, अष्टांगिक मार्ग, साधन- चतु ष्टय में मनुष्य के व्यक्तिगत कल्याण के साथ-साथ जनकल्याण करने वाले मार्ग हैं।

जैन दर्शन में जब अपरिग्रह की बात कही गयी तो यह जन कल्याण ही था। ये सामाजिक दायित्व की जागृति ही थी। अपरिग्रह अर्थात आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना। यह मनुष्य को लालच, मोह, तृष्णा से बचाकर उसके व्यक्तित्व का निर्माण तो करता ही है साथ ही समाज का, लोगों का, कल्याण भी करता है। अति संग्रह अर्थात् दूसरों के अधिकारों का हनन। अति संग्रह को रोककर हम समाज में समान विवरण व्यवस्था लागू करते हैं, समाज में कालाबाजारी, जमाखोरी रोकते हैं। प्रकृति के सीमित साधनों का समुचित वितरण व्यवस्था लागू करते है। प्रकृति के संसाधन सीमित हैं। अत: जब हम आवश्यकता से अधिक संग्रह करते हैं तो निश्चित रूप से हम दूसरे को उसके अधिकारो से वंचित कर देते है, यह भी एक प्रकार की हिंसा है। समाज में सबको उनके अधिकार मिले, यही अहिंसा व समभाव है। यही सामाजिक दायित्व के प्रति लोगों की जागृति व जनकल्याण है।

बौद्ध दर्शन में सामाजिक दायित्व के प्रति लोगों की जागृति उनके अष्टांगिक मार्ग के सम्यगाजीव में स्पष्ट उल्लेखित है। सम्यागाजीव अर्थात् उचित साधनों से जीवन-यापन करना। जब हम लालच प्रलोभन में फंस जाते है तब हम जीवन यापन के लिए अनुचित साधनों का प्रयोग करनें लग जाते हैं। यदि हम अनुचित साधनों का प्रयोग जीवन-यापन के लिए नहीं करेंगे तो यह भी सामाजिक कल्याण व सामाजिक जागरूकता है। अनुचित साधनों का प्रयोग प्राय: दूसरो के अहित, दूसरो के अकल्याण पर आधारित होता है। समाज में सब परस्पर जुडे हुए हैं। सबका कल्याण सबका हित परस्पर जुड़ा हुआ है। यदि हमारे द्वारा किसी का अहित हो रहा है तो दूसरों के द्वारा हमारा भी अहित हो रहा है। अत: सम्यगाजीव के द्वारा किसी का भी अहित किसी के भी द्वारा नहीं होता। सबका

कल्याण सबके द्वारा होता है। यह सामाजिक शुचिता का सर्वश्रेष्ठ आचरण है।

सत्य, अहिंसा, प्रेम, दया, करूणा जहां हमारा कल्याण करते हैं, हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करते है वहीं सामाजिक कल्याण व समाज के विकास का निर्माण भी करते हैं व्यक्ति से मिलकर समाज बनता है। अत: प्रत्येक व्यक्ति का उत्थान समाज का उत्थान है। गांधी जी व विनोबा भावे के दर्शन में सर्वोदय की अवधारणा भी यही सामाजिक जागृति व सामाजिक कल्याण हैं, सर्वोदय अर्थात् सबका उदय, सबका विकास, सबका कल्याण। सर्वोदय की अवधारणा भी अपरिग्रह प्रेम व अहिंसा के सिद्धांत पर आधारित है। जब तक सबका कल्याण नहीं होता तब तक व्यक्ति विशेष का भी कल्याण नहीं हो सकता।

सर्वोदय की अवधारणा भी सामाजिक दायित्व की जागरूकता का संकल्प है। वैदिक काल में सब साथ चलें, सब साथ बोलें, जब कहा गया तो यह भी सर्वोदय ही था। सबका विकास साथ हो सबके प्रति सहिष्णुता का भाव हो, दूसरों के विचारों व वाणी का सम्मान हो, यही आदर्श था। अहं ब्रह्मास्मि, तत्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म ये सब वाक्य समभाव को ही समाज में जागृत करने के लिए था। सब ब्रह्म है, सब समान हैं, यही मूल सिद्धांत था।

मनुष्य के जीवन का पूर्ण ''लक्ष्य सबका जीवन दुखरहित हो'' है। मनुष्य अपने जीवन में जब मुक्ति प्राप्त कर लेता है तब वह स्व से ऊपर उठकर सर्व से जुड़ जाता है, जहां सबका दुख अपना दुख बन जाता है। जब सबमें स्वयं को हम देखने लग जाते हैं तो सबके दुख को दूर करने का प्रयास भी हम उतनी तत्परता से करने लग जाते हैं जितनी तत्परता से हम स्वयं अपना दुख दूर करने का प्रयास करते हैं। पहले स्वयं ज्ञान प्राप्त कर अज्ञानता व उससे उत्पन्न दुख को दूर करना होगा फिर सबको ज्ञान प्रदान कर उनकी अज्ञानता को व उससे उत्पन्न दुख को समाप्त करना होगा। सभी महान व्यक्तियों ने ऐसा ही किया। पहले स्वयं मोक्ष प्राप्त किया फिर सर्व मोक्ष के लिए प्रयास किया। राधाकृष्णन के दर्शन का सर्वमोक्ष सामाजिक दायित्व की जागृति ही है।

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार ससीम से असीम की ओर जाना ही ईश्वरत्व के भाव की ओर गमन है। उनके अनुसार कृत्वय एक ऐसा बोध है जिससे मनुष्य को अपने स्व से ऊपर उठकर ''जगत'' में सर्व में

विकसित होने का अवसर मिलता है। दया करुणा व प्रेम के द्वारा ''सार्वभौम प्रेम'' उत्पन्न होता है जो स्वार्थ रहित व त्याग से युक्त होता है व अहंकार मुक्त होता है स्वार्थमूलक संकीर्णता का त्याग करके ही शांति की अनुभूति हो सकती है। स्व से तटस्थ होने पर ही ''सर्व'' अर्थात् ''व्यापकता'', ''सर्वकल्याण'' की ओर बढ़ा जा सकता है। राधाकृष्णन कहते हैं प्रत्येक मुक्त आत्मा का अपना ''आध्यात्मिक उत्तरदायित्व'' होना चाहिए, केवल वैयक्तिक नहीं बल्कि सर्वमुक्ति उसके जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को ''सर्वमुक्ति'' की दिव्यता से युक्त होना चाहिए। प्रत्येक मुक्त आत्मा को अन्य आत्माओं की मुक्ति के लिए प्रयास करना चाहिए। सर्वमुक्ति ही मनुष्य के जीवन का अंतिम व परम लक्ष्य है होना चाहिए।

गीता का लोकसंग्रह भी सामाजिक दायित्व की जागृति है। कर्म में अनासक्त भाव से युक्त होते हुए लोक-कल्याण के लिए कर्म करना लोकसंग्रह है, सर्वोदय है। सभी मोक्ष प्राप्त व्यक्ति जनकल्याण के लिए अनासक्त भाव से कर्म करते रहे। महर्षि कणाद लोकाभ्युदय को ही धर्म मानते हैं ''यतोऽभ्युदय नि:श्रेयस सिद्धिसधर्म:। मानवतावाद का अभ्युदय भी सामाजिक दायित्व की जागृति के फलस्वरूप ही हुआ। स्वामी विवेकानंद कहते है कि मानव सेवा ही सच्ची ईश्वर सेवा है, मैं उस ईश्वर का सेवक हूं जिसे अज्ञानी लोग मनुष्य कहते हैं। महात्मा गांधी जी दरिद्र नारायण की बात करते है। जागृत पुरोहित की हमेशा कामना रहती है ''सर्वे भवन्तु सुखिना सर्वे सन्तु निरामया: सर्वे भद्राणी पश्यन्तु, मा कश्चित् दुखभागभवेत्।।

भारतीय दर्शन में ज्ञानी उसी को कहा जाता है जो जागृत होता है सबके प्रति, समाज के प्रति, उसके कल्याण के प्रति। सोया हुआ व्यक्ति कभी भी ज्ञानी नहीं हो सकता। जिसकी चेतना जागृत है वहीं ज्ञानी है। चेतना की जागृति की सर्वोच्च अवस्था तुरीयावस्था हैं जहां ब्रह्म साक्षात्कार, आत्म साक्षात्कार होता है। साधक चेतना को पूर्ण विकसित करके सर्वोच्च स्तर पर पहुंचता है और वहां ''वसुधैव कुटुम्बकम'' दिखायी देता है, पूरी धरती माता दिखाई देती है, ''अहं ब्रह्मास्मि'', ''तत्वमसि'', ''अयमात्मा ब्रह्म'', ''सर्व खल्विदं ब्रह्म'' दिखायी देता है और यहीं सामाजिक दायित्व के जागृति की पूर्णावस्था है यही मानव जीवन का लक्ष्य है।

संदर्भ

1. विवेकवाणी (स्वामी विवेकानंद की शिक्षाएं) - रामकृष्ण मठ, नागपुर।
2. विवेकानंद साहित्य, प्रथम, द्वितीय, तृतीय खण्ड - अद्धैत आश्रम (प्रकाशन विभाग) 5 डिही एण्टाली रोड, कलकत्ता - 700014
3. तैत्तिरीयोपनिषद-' गीता प्रेस, गोरखपुर, गोविन्द भवन कार्यालय, गीता प्रेस, गोरखपुर।
4. सत्य के प्रयोग - एम. के. गांधी - नवजीवन ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित मुद्रक और प्रकाशक- जितेन्द्र ठाकोर भाई देसाई, नवजीवन मुद्राणालय, अहमदाबाद - 380014
   ISBN-81-7229-050-0
5. भारतीय दर्शन, खण्ड एक, खण्ड दो, डॉ. राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, 1590, मदरसा रोड़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 110006
6. समकालीन भारतीय दर्शन - बसंत कुमार लाल, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली।
7. समकालीन भारतीय दर्शन संपादक लक्ष्मी सक्सेना, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ।
8. भारतीय दर्शन - दत्त एवं चटर्जी, पुस्तक भंडार, पटना
9. प्रमुख दर्शनिक चिंतन - डॉ. रंजना शर्मा - मोतीलाल बनारसी दास पब्लिकेशन नई दिल्ली।

विभागाध्यक्ष
दर्शनशास्त्र विभाग
दुर्गा महाविद्यालय
रायपुर (छत्तीसगढ़)

धार्मिक भाषा की समस्या के सन्दर्भ में आई. एम. क्रौम्बी की दृष्टांत कथा एवं साम्यानुमान पर आधारित युक्ति

- डॉ. ज्योति पाण्डेय
- प्रो. ऋषि कांत पाण्डेय

सारांश

विश्लेषणात्मक दर्शन अथवा भाषा विश्लेषण सम्बन्धी विचारधारा का जो प्रभाव धर्म दर्शन के क्षेत्र में पड़ा, जिसके फलस्वरूप धर्म दर्शन की एक नई विधा धार्मिक भाषा का आविर्भाव हुआ। इसके अनुसार धर्म दर्शन का उद्देश्य धार्मिक समस्याओं को प्रस्तुत करना तथा उसका समाधान करना नहीं है, बल्कि धर्म से सम्बन्धित भाषा का जिसे धार्मिक भाषा कहते हैं, का स्पष्टीकरण करना तथा उसकी सार्थकता या निरर्थकता की शर्ते निर्धारित करना है। मेरे शोध-पत्र की निम्नलिखित समस्याएँ हैं-

- धार्मिक भाषा का क्या स्वरूप है और यह तथ्यात्मक भाषा से कहाँ तक भिन्न होती है? इसकी सार्थकता के विषय में जो कुछ भी कहा जाता है, क्या दार्शनिक एवं तार्किक दृष्टि से उनका समर्थन किया जा सकता है?
- संज्ञानवादी दार्शनिक आई. एम. क्रौम्बी ने किस प्रकार दृष्टांत कथा एवं साम्यानुमानिक युक्ति द्वारा धार्मिक भाषा की समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है, अर्थात् हम इन धार्मिक कथनों का किस प्रकार समझते है?

ऐतिहासिक दृष्टि से यह मूल प्रधान तार्किक प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों ने उठाया था, जिन्होंने इन कथनों की संज्ञानात्मक सार्थकता की कसौटी के रूप में दो सिद्धान्तों सत्यापनीय एवं मिथ्यापनीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

हम देखेंगे कि क्रौम्बी ने धार्मिक कथनों से सम्बंधित दो असंगतियों की चर्चा की है। प्रथम, विरोधाभास का सम्बन्ध धार्मिक कथनों के उद्देश्य से

है एवं द्वितीय विरोधाभास का सम्बन्ध विधेय से है। क्रौम्बी ने इन धार्मिक कथनों से सम्बंधित विरोधाभास के समाधान के लिए दृष्टांत कथा एवं साम्यानुमान का सहारा लिया है। अंतत: मेरे शोध का पत्र का उद्देश्य क्रौम्बी किस प्रकार धार्मिक कथनों की बोधगम्यता को स्पष्ट करने के प्रयास में धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक सिद्ध कर पाए है नहीं ?

कुंजी शब्द -विश्लेषणात्मक धर्मदर्शन, धार्मिक भाषा की समस्या, धार्मिक कथनों की संज्ञानात्मक सार्थकता की कसौटी, दृष्टांत कथा एवं साम्यानुमानिक युक्ति ।

विश्लेषणात्मक दर्शन अथवा भाषा विश्लेषण सम्बन्धी विचारधारा का जो प्रभाव धर्म दर्शन के क्षेत्र में पड़ा, जिसके फलस्वरूप धर्म दर्शन की एक नई विधा धार्मिक भाषा का आविर्भाव हुआ। इसके अनुसार धर्म दर्शन का उद्देश्य धार्मिक समस्याओं को प्रस्तुत करना तथा उसका समाधान करना नहीं है, बल्कि धर्म से सम्बन्धित भाषा का जिसे धार्मिक भाषा कहते हैं, का स्पष्टीकरण करना तथा उसकी सार्थकता या निरर्थकता की शर्ते निर्धारित करना है। मेरे शोध-पत्र की निम्नलिखित समस्याएँ हैं-

धार्मिक भाषा का क्या स्वरूप है और यह तथ्यात्मक भाषा से कहाँ तक भिन्न होती है? इसकी सार्थकता के विषय में जो कुछ भी कहा जाता है, क्या दार्शनिक एवं तार्किक दृष्टि से उनका समर्थन किया जा सकता है?

संज्ञानवादी दार्शनिक आई.एम. क्रौम्बी ने किस प्रकार दृष्टांत कथा एवं साम्यानुमानिक युक्ति द्वारा धार्मिक भाषा की समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है, अर्थात् हम इन धार्मिक कथनों का किस प्रकार समझते है?

ऐतिहासिक दृष्टि से यह मूल प्रधान तार्किक प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों ने उठाया था, जिन्होंने इन कथनों की संज्ञानात्मक सार्थकता की कसौटी के रूप में दो सिद्धान्तों सत्यापनीय एवं मिथ्यापनीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

आई. एम. क्रौम्बी धार्मिक कथनों कों संज्ञानात्मक दृष्टि से सार्थक या अर्थपूर्ण मानते हैं, इन्होंने भी धार्मिक भाषा की सार्थकता के विषय में आयोजित उस विचारगोष्ठी में भाग लिया था, जिसमें फ्ल्यू, हेयर, मिचेल ने अपने लेख प्रस्तुत किये थे। क्रौम्बी ने धार्मिक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता को सिद्ध करने के लिए दो लेख लिखे हैं जिसमें प्रथम लेख

'थियोलॉजी एवं फॉलसीफिकेशन फ्ल्यू और मैकिन्टायर द्वारा सम्पादित पुस्तक 'न्यू एसेज इन फिलॉसॉफिकल थियोलॉजी' में प्रकाशत हुआ। इस लेख में उन्होंने फ्ल्यू की चुनौती का उत्तर देने का प्रयास किया है। इस विचारगोष्ठी में भाग लेने के अतिरिक्त उन्होंने धार्मिक कथनों की सार्थकता के सम्बन्ध में लेख भी लिखा है 'दि पॉसिबिलिटी ऑफ थियोलॉजिकल स्टेटमेन्ट्स' जो बेसिल मिचेल द्वारा सम्पादित 'फेथ एण्ड लॉजिक' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुआ, अपने इस लेख में उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि धार्मिक कथन वास्तव में संज्ञानात्मक अथवा तथ्यपरक कथन है। इस लेख में उन्होंने ईश्वर विषयक कथनों के अर्थ एवं स्वरूप का तार्किक विश्लेषण कर इन कथनों को तथ्यात्मक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार धार्मिक कथन किसी सत्ता का निर्देश करते हैं तथा उसका विवरण भी प्रस्तुत करते हैं और इस कारण तथ्यात्मक होते हैं।

आई. एम. क्रौम्बी ने अपने लेख 'दी पॉसिबिलिटी ऑफ थियोलॉजिकल स्टेटमेंट्स' में धार्मिक कथनों से सम्बन्धित दो असंगतियों की चर्चा की है। प्रथम विरोधाभास का संबंध धार्मिक कथनों के उद्देश्य से है एवं द्वितीय विरोधाभास का सम्बन्ध विधेय से है। क्रौम्बी के अनुसार ये विरोधाभास हमें धार्मिक कथनों का बोधगम्य बनाने में मदद करते हैं। धार्मिक कथनों से संबंधित विरोधाभास के समाधान के लिए क्रौम्बी ने दृष्टान्त कथा एवं साम्यानुमान अथवा एनॉलाजी का सहारा लिया है। क्रौम्बी के अनुसार अलौकिक अनुभवातीत ईश्वर से सम्बद्ध होने के कारण धार्मिक कथन उस अर्थ में तथ्यात्मक नहीं होते, जिस अर्थ में लौकिक जगत से सम्बन्धित अनुभवात्मक कथन होते हैं। उनका कहना है कि ईश्वर विषयक कथन साधारण अर्थ में तथ्यात्मक न होकर दृष्टान्त कथाओं पर आधारित होते हैं। इन दृष्टान्त कथाओं के आधार पर ईश्वरीय कथनों की सार्थकता की व्याख्या की जा सकती है, जो प्रत्येक धर्म में पाई जाती है। धार्मिक व्यक्ति इन दृष्टान्त कथाओं के माध्यम से ही धार्मिक कथनों का अर्थ समझते हैं तथा अपने दैनिक जीवन में इनका सार्थक रूप से प्रयोग करते हैं। इस दृष्टि से ये दृष्टान्त कथाएं इन कथनों की सार्थकता की व्याख्या के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।[1]

प्रश्न उठता है कि किसी दृष्टांत कथा को धार्मिक कथनों की सार्थकता के लिए उपयुक्त तथा प्रासंगिक मानने के हमारे पास क्या आधार है? क्रौम्बी के अनुसार हम धर्मगुरुओं के आत्मवचनों के आधार पर ही किसी

दृष्टांत कथा को उचित एवं प्रासंगिक मान सकते हैं। उनका मानना है कि ईसाई धर्म में जो दृष्टांत कथाएँ पाई जाती हैं उन्हें ईसाई लोग ईसा मसीह के आत्म वचनों के कारण ही सत्य एवं महत्वपूर्ण मानते हैं। ईसाई धर्म में वर्णित इन्हीं दृष्टांत कथाओं एवं रूपकों के आधार पर ईसाई धर्म के ईश्वर विषयक कथनों की सार्थकता की व्याख्या की जा सकती है। क्रौम्बी के शब्दों में

'That what we say God is said on authority (and, in particular on the authority of Christ) is of the first importance in considering the significance of these what we do, then, is essence to think of God is parables- Things statement-.....we say about God are said on the authority of the words and acts of Christ, who spoke in human language, using parable[2]

अर्थात् हम ईश्वर के विषय में जो कुछ कहते हैं वह ईसा मसीह के आप्तवाक्यों के आधार पर ही कहते हैं और यह धार्मिक कथनों की सार्थकता के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात है। वस्तुत: हम दृष्टांत कथाओं की सहायता से ही ईश्वर के विषय में चिंतन करते हैं। हम ईश्वर के सम्बन्ध में जो बातें कहते हैं वे ईसा मसीह के आप्तवचनों तथा कार्यों के आधार पर ही कहते हैं, जिन्होंने दृष्टांत कथा का उपयोग करते हुए हमें मानवीय भाषा में उपदेश दिया। इस प्रकार धार्मिक कथनों की सार्थकता को समझने के लिए ईश्वरवादी धर्मों में पाई जाने वाली दृष्टांत कथाओं का विशेष महत्व है। इसके अतिरिक्त अनीश्वरवादी धर्मों में यथा बौद्ध, जैन आदि में जातक कथाएँ एवं धम्मपद आदि धार्मिक कथनों को समझने के लिए महत्वपूर्ण हैं।

ईश्वर विषयक धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक सिद्ध करने के लिए एवं उसकी सार्थकता की व्याख्या के लिए क्रौम्बी दृष्टांत कथाओं के अतिरिक्त 'साम्यानुमान' (Analogy) को भी महत्वपूर्ण मानते हैं। उनका मत है कि साम्यानुमान के माध्यम से ही हम धार्मिक कथनों को बोधगम्य बना सकते हैं। यह सत्य है कि हम ईश्वर के गुणों तथा कार्यों को यथा तथ्य रूप में तो नहीं जान सकते किंतु मानवीय गुणों एवं सादृश्य के आधार पर हम उसके गुणों एवं कार्यों की झलक प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, 'ईश्वर हमसे प्रेम करता है इस कथन का अर्थ हम तभी समझ सकते हैं जब हम ईश्वरीय प्रेम एवं मानवीय प्रेम में कुछ साम्य को अवश्य स्वीकार करें। क्रौम्बी कहते हैं कि - "Human loves is right image to use about God must imply that there is some similarity or analogy between human

and divine love. But we cannot believe that there is any similarity between the love of God and human love, unless we can detect some similarity between being loved by God and being loved by man"[3]

अर्थात् मनुष्य एवं ईश्वर के प्रेम में साम्य या सादृश्य अवश्य है। जब तक हम ईश्वर द्वारा प्रेम किए जाने और मनुष्य द्वारा प्रेम किए जाने में कोई साम्य नहीं खोज पाते तब तक हम यह विश्वास नहीं कर सकते कि ईश्वर के प्रेम तथा मनुष्य के प्रेम में कोई सादृश्य है। यही बात ज्ञान, शुभत्व आदि ईश्वरीय गुणों के सन्दर्भ में कही जाती है। यद्यपि ईश्वर के सन्दर्भ में प्रयुक्त इन शब्दों (यथा प्रेम) आदि का वह अर्थ नहीं होता तथापि मानवीय प्रेम के आधार पर हम ईश्वर के प्रेम के स्वरूप का कुछ अनुमान लगा सकते हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य और ईश्वर दोनों के संदर्भ में प्रयुक्त इन शब्दों के अर्थ में कुछ साम्य अथवा सादृश्य अवश्य है।[4] इस प्रकार क़ौम्बी ने दृष्टांत कथाओं अथवा रूपकों को की भाषा और सादृश्य के सिद्धान्त के आधार पर ईश्वर विषयक धार्मिक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। उल्लेखनीय है कि ईश्वर तथा अन्य अतिप्राकृतिक सत्ताओं को बोधगम्य बनाने या उससे संबंधित किसी प्रकार का वस्तुपरक धार्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए मध्ययुगीन ईसाई धर्मावलंबी संत थॉमस एक्विनास ने भी साम्यानुमान (Analogy) को माध्यम बनाया था। अस्तु, हम केवल सादृश्य तथा दृष्टांत कथाओं की भाषा में ही ईश्वर के संबंध में सार्थकतापूर्वक बात कर सकते हैं।[5]

क्रौम्बी का कथन है कि मनुष्य का कोई भी अनुभव और वैज्ञानिक सिद्धांत उस आध्यात्मिक तत्व का स्थान नहीं ले सकता जो तत्व उसे अन्य प्राणियों से अलग करता है। ईश्वर का विचार ही उसके जीवन के इस अभाव की पूर्ति करता है और इसी कारण ईश्वर विषयक कथन उसके लिए सार्थक हो जाते हैं। इस तर्क द्वारा भी क्रौम्बी ने धार्मिक कथनों को संज्ञानात्मक सिद्ध करने का प्रयास किया है।[6]

परन्तु यहाँ समस्या यह है कि जिस ईश्वर से इन धार्मिक कथनों का संबंध है वह अलौकिक, अनुभवातीत, अज्ञेय, असीमित तथा अचिंत्य माना जाता है जिसका स्वयं क्रौम्बी समर्थन करते हैं। क्रौम्बी स्पष्ट कहते हैं । ''We want so say that God is a being beyond the reach of our conception:"[7] अर्थात् ईश्वर हमारी समस्त अवधारणाओं से परे हैं और इसी कारण वह हमारे लिए अचिंत्य है। ऐसी स्थिति में तार्किक

भाववादियों का यह मत युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि हम ऐसे ईश्वर के सन्दर्भ में तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थकतापूर्वक कुछ भी कह अथवा समझ नहीं सकते। इस बात का समर्थन स्वयं क्रौम्बी भी करते हैं तथा इसी कारण वे ईश्वर के विषय में चर्चा करने के लिए दृष्टांत कथाओं एवं साम्यानुमान की सहायता लेना आवश्यक मानते है लेकिन क्रौम्बी के अनुसार ईश्वरीय कथनों के सन्दर्भ में उपर्युक्त कठिनाई का अनुभव केवल दार्शनिक ही करता है, धार्मिक व्यक्ति नहीं। दार्शनिक ही यह प्रश्न उठाता है कि अनुभवातीत, अगोचर तथा अचिंत्य ईश्वर के विषय में सार्थक ढंग से कहना कैसे संभव है? धर्मपरायण व्यक्ति के समक्ष यह प्रश्न कभी नहीं आता है क्योंकि वह ईश्वर संबंधी किसी दार्शनिक विवाद में न उलझकर अपनी गहन आस्था के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है तथा उसकी उपासना करता है। क़ौम्बी के शब्दों में

"To the religious man the natural answer to such a question is "God" is the name of the being who is worthy to be adored and as I have said, is perhaps the most illuminating answer one can give"[8] अर्थात् धार्मिक व्यक्ति के लिए ईश्वर वह है जो उसकी पूजा या उपासना का विषय है। शायद यही सबसे उपयुक्त उत्तर है जो हम दे सकते हैं। अस्तु क्रौम्बी के मत से यह बात स्पष्ट होती है कि अनुभववादियों द्वारा उठाई गई उपर्युक्त कठिनाई का धार्मिकों के लिए कोई महत्व नहीं है। उनके अनुसार दर्शन के विपरीत धर्म का संबंध मुख्यत: आस्था से है और ईश्वर के प्रति धार्मिकों का यह आस्थामूलक दृष्टिकोण धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक मानने में कोई बाधक सिद्ध नहीं होता है।

मूल्यांकन-

अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक या संज्ञानात्मक सार्थकता के संबंध में क्रौम्बी ने जिन युक्तियों को आधार बनाया है वह कहाँ तक उचित है? क्रौम्बी के सिद्धान्त में अनेक विसंगतियाँ परिलक्षित होती है। एक आपत्ति क्रौम्बी की ईश्वर के विषय में दृष्टान्त कथाओं तथा रूपकों के सन्दर्भ में उठायी जाती है। ये कथाएँ अनिवार्यत: मनुष्य के स्वभाव व गुणों से जुड़ी रहती है तथा मानवीय भाषा में व्यक्त की जाती है। हम इन कथाओं में प्रयुक्त सामान्य शब्दों के अर्थ के माध्यम से ही इनका तात्पर्य समझते है। इन कथाओं के अर्थ बोध का आधार हमारा मानवीय अनुभव ही है। ऐसी स्थिति में ये कथाएँ अतीन्द्रिय तथा अज्ञेय ईश्वर की अवधारणा को बोधगम्य बनाने में

समर्थ नहीं हो सकती है। इन कथाओं के माध्यम से हम अधिक से अधिक ईश्वर की मानवत्वारोपी अवधारणा को समझ सकते हैं जिसे अधिकांश ईश्पवरवादी उचित नहीं मानते।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि दृष्टांत कथाओं, साम्यानुमान इत्यादि का धार्मिक कथनों की तथ्यात्मकता से कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं है क्योंकि जिस ईश्वर के विषय में ये कथन हमें कुछ विशेष तथ्यात्मक ज्ञान प्रदान करने का दावा करते हैं उसे क्रौम्बी स्वयं अनुभवातीत एवं समस्त अवधारणाओं से परे मानते हैं। इस प्रकार क्रौम्बी का सिद्धान्त भी ईश्वर विषयक कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक अथवा संज्ञानात्मक कथन सिद्ध करने में सफल नहीं हो सका।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Crombie, I.M. (1955), "Theology and Falsification", Edited in Flew, Antony & Macintyre, A (1955): New Essays in Philosophical Theology, SCM Press Ltd., Landon, P. 120.
2. Ibid., P. 117, 122
3. Ibid., P. 128.
4. Mitchell Basil, (1957) "Faith and Logic", Oxford Essays in Philosophical theology, Rutledge, London, p. 62, 71.
5. Crombie, I.M. (1971), "The possibility of Theological Statements", "Faith and Logic" edited by Mitchell, Basil, Oxford University Press, p. 70-73.
6. Ibid., p. 56-58.
7. Mitchell, Basil, (1957) "Faith and logic Oxford Essays in Philosophical Theology, Routledge, London, p. 65.
8. Ibid., p. 67

शोध छात्रा,
दर्शनशास्त्र विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
ईमेल - jyoti.s.pandey1993@gmail.com
मो. नं. - 8858727908

नाथपंथ : दार्शनिक विमर्श

- डॉ. प्रभाकर पाण्डेय

प्रस्तावना

भारतीय योग दर्शन के वृहत् इतिहास के वर्णन एवं समीक्षा में हमारा देश अत्यन्त सौभाग्यशाली रहा है, जिसने महान योग-तपस्वी विचारकों तथा दार्शनिकों को जन्म दिया। जिन्होंने वेद, पुराण, उपनिषद् एवं प्रस्थानत्रयी का विश्लेषण तथा पुनरविश्लेषण समय तथा परिस्थितियों के अनुसार किया और साधकों का मार्ग प्रशस्त किया। महायोगी गोरखनाथ जी उन महान तथा विलक्षण दार्शनिकों में से एक हैं, जिन्होंने अपनी लेखनी, शिक्षण तथा प्रेक्षणों के माध्यम से मानवता को पोषित एवं सिंचित किया। महायोगी गोरखनाथ जी एक महान योगी एवं दार्शनिक थे जिन्होंने दर्शन का पालन तथा आत्म-लिंगन किया, जिसके परिणाम स्वरूप योग का महान उद्भव हुआ। परन्तु पतंजलि योग और गोरखनाथ जी द्वारा उद्धृत योग में बड़ी भिन्नताएं हैं जहाँ पतंजलि योग केवल विधि और सिद्धान्त की विवेचना करता है, वहीं इसके विपरीत महायोगी गोरखनाथ जी द्वारा प्रशस्त योग, योग के व्यावहारिक पहलुओं पर केन्द्रीत है। इसके अतिरिक्त बहुतायत दार्शनिकों जैसे महेश योगी, आचार्य रजनीश, स्वामी विवेकानन्द एवं योगानंद ने भी पतंजलि योग तथा महान योगी गोरखनाथ जी द्वारा प्रशस्त योग के मार्ग का अनुसरण किया है।

मुख्य शब्द :- परम चेतना, निरपेक्ष, समवित्त, सिद्ध सिद्धान्त पद्धति

योग का अनुसरण ज्ञान प्राप्त करने की विभिन्न विधाओं और पहलुओं से पृथक है, जैसे विभिन्न स्थानों पर उल्लेखित है कि परम सत्ता की खोज (परम लक्ष्य) एक योगी तथा दार्शनिक के लिए समान है, जहाँ एक दार्शनिक बौद्धिक स्तर पर योग के विविध पहलुओं का अन्वेषण करता है, वहीं पर एक योगी आध्यात्मिक तथा सहज रूपी योग का मार्ग प्रस्तुत करता है। एक योगी का उद्देश्य किसी जटिल, बौद्धिक अनुमान तक पहुँचना तथा किसी परिकल्पना और वाद की स्थापना करना नहीं होता, परन्तु यह एक योगी की खोज साक्षात् आध्यात्मिक सत्य की खोज करना, चेतना के परम बिन्दु तक पहुँचना है। जहाँ एक दार्शनिक तर्कसंगत तर्क के द्वारा तथा बौद्धिक स्तर पर सत्य का अन्वेषण और सत्य को परिभाषित

करना चाहता है, वहीं एक योगी नैतिक और भौतिक आत्म अनुशासन तथा आध्यात्मिक रूप से सत्य को पहचानना एवं प्राप्त करना चाहता है। जहाँ दार्शनिक अनुमानवाद के सिद्धान्तों से ऊपर नहीं उठ पाता है, वहीं योगी आध्यात्मिक अनुशासन एवं अति बौद्धिक स्तर पर सत्य का अनुभव व अन्वेषण करता है। योग का उच्चतम स्तर (समाधि) एक योगी द्वारा सिद्ध की जाती है जो कि ना तो विशुद्ध रूप से व्यक्ति परक है ना ही वस्तुनिष्ठ है अपितु इन दोनों श्रेणियों से ऊपर उठकर एक ऐसे स्वीकृत अनुभव को जन्म देती है जो की औपचारिक वर्णन के परे हैं। ऐसी उत्कृष्ट चेतना का स्तर ही समाधि कहलाता है। यह अनुभव त्रुटिपूर्ण है समाधि की अवस्था में वस्तु तथा विषय का तथा अनुभव एंव अनुभवकर्ता का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। यह एक प्रकार का जीवन पूर्ति है जैसा कि योग सूत्र में वर्णित है, योगी जो कि समाधि से वापस आता है उसको कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती बल्कि अपने अनुभवों से सत्य को उजागर करता है यदि वे एक शिक्षक या उपदेशक की भूमिका को ग्रहण करता है तो वह सरलता से अपने अनुभवों के माध्यम से जनसाधारण तक सुलभ हो जाता है। महायोगी गोरखनाथ जी एक ख्यातिलब्ध योगी थे और वह कभी भी विवादित तत्वमीमांसा में लिप्त नहीं हुए।

गोरखनाथ जी के नाम से प्रचलित नाथ संप्रदाय को संस्कृत तथा विविध भाषाओं के महान निकाय के रूप में स्थापित किया गया है। इसके आगे ऐसा कहा गया है कि आत्मविषयक सिद्धान्त जिसको गोरखनाथ जी ने प्रसारित किया और यह सिद्धान्त उनकी योग की शाखा के रूप में प्रचलित है, वह बुद्धि तथा ज्ञान के परे हैं। जैसा कि पहले एक दार्शनिक एवं एक योगी के मध्य भेद किया गया है उसी के आधार पर गोरखनाथ जी एक प्रबुद्ध महायोगी थे जो कि आमतौर पर दार्शनिक शब्द की परिभाषा से भिन्न है। गोरखनाथ जी किसी प्रकार के प्राथमिक महत्व आध्यात्मिक अनुमानों और विवादों को नहीं दिया, अंतिम 'सत्य' के अन्वेषण में, परन्तु उन्होंने आत्म-विषयक अनुभव तथा विवादों को सहायक बताया सत्य की खोज में उन्होंने तात्विक प्रतिबिम्ब को वृहत् यौगिक आत्म-अनुशासन का एक भाग बताया जो कि अकेला ही उत्तम चेतना के प्रदीप्त तथा यथार्थ सत्य के निरपेक्ष अनुभव तक पहुँचाता है। गोरखनाथ जी तथा उनके संप्रदाय का एक विशाल साहित्य है, परन्तु आध्यात्मिक समस्याओं के निरूपण से संबंधित पुस्तकें बहुत ही कम है। उनके दर्शन का परम आधार उनके सह-प्रबुद्ध योगियों के प्रति आध्यात्मिक एवं अति बौद्धिक अनुभव का चरम बिन्दु समाधि है। परन्तु एक कुशल एवं प्रसिद्ध योग शिक्षक के रूप में उन्होंने दर्शन की एक प्रणाली का प्रतिपादन किया जिसका भारत की प्रमुख योग प्रणालियों में विशेष स्थान है।

गोरखनाथ जी तथा उनके गुरू मत्स्येन्द्रनाथ जी के ग्रन्थ विशेष रूप से योग से संबंधित है तथा अन्य आधिकारिक आलेख और प्राचीन आलेख विभिन्न भाषाओं में जैसे-बंगाली, हिंदी, राजस्थानी, नेपाली तथा अन्य क्षेत्रीय भाषा में उपलब्ध है वह विशेष रूप से गोरखनाथ जी एवं मत्स्येंद्र नाथ जी एवं अन्य महायोगी जो नाथ योगी सम्प्रदाय से जुड़े हैं उनके जीवन तथा शिक्षक-प्रणालियों पर आधारित है, वे हमें 'परम सत्य' के अन्वेषण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। सिद्ध सिद्धान्त-पद्धित महत्वपूर्ण दार्शनिक कार्य हैं गोरखनाथ जी के सिद्ध, सिद्धान्त एवं पद्धित मुख्य रूप से छ: बिन्दुओं पर आधारित है, जिसमें इनको संक्षिप्त रूप से इस प्रकार उल्लेखित किया जा सकता है। 1. पिन्डोत्पत्ति (शरीरिक उद्भव) ब्रह्माण्डीय तथा व्यक्तिगत उद्भव निरपेक्ष आत्मा का। 2. पिण्ड-विचार-गहन चिंतन, शारीरिक सौष्ठव का और नव चक्र सोलह आधार, तीन लक्ष्य तथा पांच व्योम, इन सब का ज्ञान यौगिक मतानुसार। 3. पिण्ड-समवित्ती-शारीरिक आध्यात्मिक प्रकृति का सत्यान्वेषण। 4. पिण्ड-धारा-शरीर के पात्र तथा निर्वाहक का ज्ञान। 5. समरस कार्णा एक योगी के जीवन का परम आदर्श। 6. अवधूत पूर्णत: जागृत योगी।

गोरखनाथ जी के परम् सत्य की अवधारणा का आधार समाधि की अवस्था का सीधा उत्कृष्ट अनुभव है। किसी भी प्रबुद्ध महायोगी को अपने उत्कृष्ट अनुभव को सिद्ध करने के लिए किसी अवधारणा की आवश्यकता नहीं है किन्तु वह बौद्धिक अवधारणाओं का सहारा उत्कृष्ट अनुभव को सिद्ध करने के लिए कर सकता है। गोरखनाथ जी यह दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि उनके उत्कृष्ट अनुभव के दृष्टिकोण के माध्यम से परम् सत्य स्वयं प्रकाशित किया जा सकता है औ वैयक्तिक चेतना भी सम्पूर्ण रूप से इसके समान है। इसमें किसी भी ब्रह्माण्डीय आदेश की व्यूत्पत्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठाता (व्यक्तिगत) अस्तित्व के साथ, क्योंकि वे सभी एकीकृत है उत्कृष्ठ प्रकृति में। एक प्रबुद्ध महायोगी का अनुभव और एक साधारण मानव का बौद्धिक अनुरोध एक साथ जुड़े हैं। गोरखनाथ जी परम सत्य की परिकल्पना एक परम समवित्ती निज शक्ति के साथ परम चेतना का परम आत्मिक-भाव शाश्वत सत् से अनंत, अद्वितीय शक्ति के रूप में उद्धृत किया है जो कि असीम, अभूतपूर्व ब्रह्माण्डीय आदेश के साथ उभरता है एवं अनगिनत परिमित क्षणदायी अस्तित्व, समय तथा स्थान के अनुसार अनुरूपता को प्राप्त करके पूर्णता प्रदान करता है। परम सत्य जो कि अनुभव किया गया है, उत्कृष्ट अनुभव के माध्यम से महायोगी द्वारा वर्णित किया गया है सत्-चित् आनन्द ब्रह्म के रूप में जिसका रूप पवित्र और पूर्णतया अस्तित्व-चेतना तथा परमानन्द के साथ एकीभूत है, परन्तु यह अवधारणा गोरखनाथ जी द्वारा पूर्णत: पर्याप्त नहीं मानी गई और उनकी शिक्षा के अनुसार गतिशील पहुलओं को अनदेखा किया गया।

अब हम गोरखनाथ जी द्वारा प्रतिपादित 'सत् चित् आनन्द' ब्रह्म के अर्थ की चर्चा करेंगे। शुद्ध असित्व की अवधारणा को समझने के लिए गोरखनाथ जी ने 'सत्य' तथा 'असत्य' शून्य एवं पूर्ण, द्वैत एवं अद्वैत के मध्य संधि स्थापित करते हुए कि शुद्ध अस्तित्व के (सा) अवस्था में 'सिद्' शंका करता है और सभी प्रकार की मिथ्या बुद्धि को पृथक कर देता है। शुद्ध अस्तित्त्व एवं शुद्ध-अंत:करण 'चित्'एक दूसरे से भिन्न है जहाँ सत् अभूतपूर्व अस्तित्व की बात करता है वहीं चित् अभूतपूर्व चेतना की बात करता है। गोरखनाथ जी ने अनुरक्षण किया कि समस्त प्रकार के अभूतपूर्व आकस्मिक, समाधिति चेतना के विभिनन स्तरों में एक स्वयं विद्यमान 'स्व' प्रकाशित उत्कृष्ट चेतना (पर-समवित्, तथा सित्) शासन करती है। एक प्रणेता तथा निर्वाहक के रूप में जो कि अपने को प्रकट करता है बहुविध, परमित तथा परिवर्तनशील वस्तुनिष्ठ सत्यों में विशुद्ध परमानन्द की अवधारणा पूर्णतया 'सत-चित्-आनन्द'है जो कि चैतन्य जीवन के सर्वोच्च आदर्श एवं अपरिहार्य चरित्र स्वयं विद्यमान स्वयं प्रकाशित एवं पूर्णतया स्वच्छन्द तथा स्वयं सिद्ध पारलैकिक चेतना का आधार है, आनन्द संकेत करता है पूर्ण चेतना एवं भाव को। परम आत्मा औपचारिक एवं प्रयोग सिद्ध तर्क से परे हैं, किन्तु यह निरपेक्ष अनुभव के माध्यम से योग के द्वारा अनुभव की जा सकती है। गोरखनाथ जी का दर्शन 'द्वैत-अद्वैत'विलक्षणवाद तथा विर्निमुक्तवाद के रूप में जाना है।

इस प्रकार यह 'परम सत्य'का एक शाश्वत उत्कृष्ट पहलू तथा एक शाश्वत गतिशील पहलू है। उत्कृष्ट पहलू पूर्णतया प्रकाशित समाधि चेतना मुक्त योगी द्वारा प्रकट होता है वही गतिशील पहलू चेतना के सामान्य स्तरों द्वारा प्रकट किया जाता है। गोरखनाथ जी चेतना के अद्वितीय शक्ति के निरपेक्ष भाव के रूप में पूर्णतय: स्वच्छन्द, पवित्र इच्छा के रूप में वर्णित करते है। गोरखनाथ जी और उनका दर्शन 'सत्कार्यवाद'का समर्थन करता है ये दोनों ही इस बात पर बल देते हैं कि समस्त सृष्टि उत्पत्ति के पहले अव्यक्त और अविभाज्य रूप में अद्वितीय 'शिवशक्ति'के रूप में यह सम्पूर्ण जगत एक प्रागभाव के रूप में था तथा इसका विनाश एवं विघटन दोनों ही उसी परम-शक्ति में मिल जाते हैं जो कि विभिनन विविधताओं के साथ शक्ति के रूप में स्थापित है। यह अद्भुतकरणीय सम्बन्ध पारलौकिक निरन्तर उत्कृष्ट चेतना और शिव तथा सदैव परिवर्तनशील लौकिक विश्वक्रम की अवधारणा गोरखनाथ जी द्वारा एवं सिद्ध योगी सम्प्रदाय जैसे कि 'सिद्ध विलास' और 'शिव-शक्ति' विलास के द्वारा धारण की गयी जिसका अर्थ पूर्णतय: मुक्त एवं आत्म-अभिव्यक्त पारलौकिक चेतना के अभूतपूर्व स्तर के रूप में होती है।

उपर्युक्त विचार-विमर्श के आधार पर योग तथा दर्शन के विभिन्न दृष्टिकोण के माध्यम से महायोगी गोरखनाथ के योग की अवधारणा को वृहत् परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट कर सकते हैं। योगिक गतिविधियाँ इस प्रकार वर्गीकृत की जा सकती है।

वाह्य एवं आन्तरिक-वाह्य पहलू के अन्दर दो प्रकार की गतिविधियाँ निहित है। भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक। आन्तरिक पहलू के अन्तर्गत आध्यात्मिक गतिविधियाँ निहित है। इस प्रकार गोरखनाथ जी द्वारा यौगिक क्रियाएँ आगे वर्गीकृत की जा सकती है। वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक रूप में। यदि भौतिक, मनोवैज्ञानिक एवं मानसिक पहलुओं को एक साथ जा़ेड दिया जाय तो योग को एक विज्ञान कहा जा सकता है। जिसका अर्थ है शारीरिक एवं मानसिक व्यायामों द्वारा योग के मनोवैज्ञानिक पहलुओं को समझा जा सकता है। शारीरिक स्वास्थ एवं मानसिक शान्ति को प्राप्त किया जा सकता है।

जब गोरखनाथ जी यह कहते हैं कि योग आध्यात्मिक है तो उनका तात्पर्य योग के आन्तरिक पहलू से होता है। जिस प्रकार शारीरिक तथा मानसिक स्तर पर और निरपेक्ष वास्तविक सत्य की उत्कृष्ट चेतना के स्तर पर। इस प्रकार गोरखनाथ जी के अनुसार योग एक विज्ञान है। मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक जो कि बेहतर तरीके से मनोवैज्ञानिक आध्यात्म के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इसी परिप्रेक्ष्य में योग का एक और पहलू विचारणीय है कि किस प्रकार से मानवीय प्रवृत्ति एवं व्यक्तित्व को यौगिक क्रियाओं से जोड़ा जा सकता है। यदि हम मानवीय प्रवाहकत्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करें तो इसके तीन प्रमुख पहलू है १. आनुभूतिक, स्वकेन्द्रिक और सहानुभूतिक यदि हम इसके वृहद् पहलू का विश्लेषण करें तो तीन मानवीय पहलुओं का तीन प्रकार के योग द्वारा भगवद्गीता में उल्लेख है। ज्ञान योग, कर्मयोग एवं भक्तियोग।

इसी प्रकार योग के तीन पहलुओं का विश्लेषण काण्ट ने भी किया है। 1. तार्किक 2. व्यावहारिक 3. सौदर्य बोधक इस प्रकार भगवद्गीता के पश्चात् काण्ट के द्वारा तथा पुन: महायोगी गोरखनाथ जी द्वारा ऐसा निष्कर्ष निर्णित किया गया कि सैद्धान्तिक तर्क योग के आध्यात्मिक पहलू का विश्लेषण, व्यावहारिक और सहज ज्ञान युक्त तथा सहज ज्ञान द्वारा करता है।

prabhakarpandey719p@gmail.com
9721813576

प्रो. श्याम किशोर सेठ का दार्शनिक योगदान

- प्रो. नीलिमा मिश्र

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के श्रेष्ठ विद्वानों में से एक प्रो. श्याम किशोर सेठ ने इस विषय में अनेक प्रकार से योगदान दिया है जिन पर विभाग को गर्व है। वे, निस्संदेह, संपूर्ण उत्तर भारत में तर्कशास्त्र के सर्वश्रेष्ठ प्राध्यापक हैं और उन्होंने इस लेख की लेखिका के साथ मिलकर 'तर्कशास्त्र - एक आधुनिक परिचय' शीर्षक से पाश्चात्य तर्कशास्त्र विषय में एक पुस्तक भी प्रकाशित की है जिसमें इरविंग एम. कोपी के अलावा अन्य विद्वानों के दृष्टिकोणों के साथ ही अपनी कुछ निजी व्याख्याएँ शामिल कर उस पुस्तक को एक परिपूर्ण रुप प्रदान करने का प्रयत्न किया है । दर्शन विषय की विभिन्न शाखाओं में से नीतिदर्शन भी उनका प्रिय विषय रहा है और इस विषय में भी उन्होंने ''नीति-दर्शन : एक नियामक अध्ययन'' नामक पुस्तक प्रकाशित की है । ज्ञानदर्शन शाखा में ''ज्ञान-दर्शन - फ़िलॉसफ़ी ऑफ नॉलेज'' तथा तत्वदर्शन व धर्म दर्शन में ''ईश्वर, स्वतंत्रता और अमरत्व : एक तत्वदार्शनिक अध्ययन'' (स्वामी प्रणवानंद पुरस्कार से सम्मानित) शीर्षक से उनकी प्रतिष्ठित कृतियाँ हैं । दर्शन की उपर्युक्त शाखाओं के अतिरिक्त प्रो. सेठ को इमैनुअल कांट के दर्शन का भी पारंगत माना जाता है ।

प्रो. सेठ के शोध छात्र-छात्राओं ने आधुनिक पाश्चात्य दर्शन से संबंधित विभिन्न विषयों पर शोध कार्य किया है और डी. फिल की उपाधि प्राप्त की है । उनमें से अनेक देश के विभिन्न भागों में दर्शन विषय के सफल प्रवक्ता - प्राध्यापक हैं ।

अध्यापन, पुस्तक-लेखन और शोध-निर्देशन के अलावा दर्शन विषय के प्रति प्रो. सेठ का उल्लेखनीय योगदान यह है कि उन्होंने इस विषय की कुछ अत्यंत गंभीर समस्याओं के संतोषजनक समाधान खोजने के प्रयास किए । गहन चिंतन, तीक्ष्ण विश्लेषणात्मक शक्ति और स्पष्ट स्मृति के धनी, प्रो. सेठ की समझ दर्शन के प्रश्नों को लेकर बहुत गहरी है और उन्होंने उनमें से कई प्रश्नों के समुचित हल सुझाए हैं।

'दर्शन क्या है', यह ऐसा ही एक प्रश्न है जिसका उत्तर देना इस विषय के अच्छे से अच्छे विद्वान के लिए शर्मिंदा करने की सीमा तक कठिन है। 'दर्शन विज्ञानों का विज्ञान है', 'यह सत् का ज्ञान है', 'यह एक परम सत्ता की खोज है', 'यह एक पूर्णत: एकीकृत ज्ञान है', ''यह भाषा का तार्किक विश्लेषण या आलोचना मात्र है'' - ये सभी परिभाषाएँ दार्शनिक चिंतन की मौलिक प्रकृति को पूर्ण रुप से स्पष्ट करने में असफल रह जाती हैं । प्रो. सेठ ने अपनी पुस्तक 'ज्ञान दर्शन - फ़िलॉसफ़ी ऑफ नॉलेज' - में दर्शन को एक 'द्वितीय क्रम के अध्ययन या ज्ञान' के रुप में परिभाषित किया है[1] जो साररुप में किसी भी विषय पर वैचारिक आत्मचेतन प्रक्रिया है, न कि किसी भी वस्तु या तथ्य के बारे में 'प्रथम क्रम का ज्ञान या जानकारी' । किसी भी तरह से प्राप्त सूचनाएँ या जानकारियाँ दार्शनिक विश्लेषण का विषय बन सकती हैं । उन्होंने यह स्पष्ट किया कि दर्शन हमारे सूचनात्मक ज्ञान में यानी 'प्रथम क्रम के ज्ञान' में कुछ भी नया जोड़ नहीं सकता यानी उसमें वृद्धि नहीं कर सकता । 'प्रथम क्रम के ज्ञान' प्रदान करना, हमारे विभिन्न साधारण अनुभवों तथा विज्ञान का काम है। विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ, इतिहास इत्यादि अनेक विषय - जो प्रथम क्रम का ज्ञान ही हैं - दार्शनिक चिंतन हेतु विषय-सामग्री प्रदान करते हैं और दार्शनिक चिंतन इन पहले से प्राप्त या एकत्रित सूचनाओं पर आलोचनात्मक विमर्श है जिसमें हम इन सूचनाओं पर विचार करते हैं और उनके संबंध में कुछ महत्वपूर्ण सामान्य प्रश्नों को उठाते हैं। फलत: हमारे 'प्रथम क्रम के ज्ञान' में अधिक गहराई आती है और उसमें ज्ञात वस्तुओं पर नया प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार के चिंतन में हमारी दृष्टि बाहर की ओर न होकर आंतरिक होती है यानी अपने ही सूचनात्मक ज्ञान पर केंद्रित। इसी कारण , इस प्रकार का चिंतन आत्म-चेतन होता है । प्रो. सेठ द्वारा स्पष्ट किया गया दर्शन का यह स्वरुप इस विषय की सभी शाखाओं और स्कूलों पर बिना किसी अपवाद के लागू होता है, यहाँ तक कि संदेहवाद पर भी जिसके अनुसार, मनुष्य के लिए किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है ।

सामान्यत: धर्म को विज्ञान के विरोध में खड़ा किया जाता है । दोनों के स्वरुप को एक दूसरे का विरोधी समझा जाता है क्योंकि माना जाता है कि विज्ञान तर्क पर आधारित है और धर्म आस्था पर। इस आधार पर अनेक विद्वान धर्म को नकार देते हैं या उसकी अवहेलना करते हैं। प्रो. सेठ ने इस दृष्टिकोण पर प्रश्न उठाए हैं और प्रदर्शित किया है कि विज्ञान की प्रक्रियाएँ (Workings of Science) कतिपय ऐसी आस्थाओं पर निर्भर हैं जिनको विज्ञान तार्किक रुप से प्रमाणित या स्थापित नहीं कर सकता । उदाहरण के लिए, विज्ञान 'आगमन के सिद्धांत' का प्रयोग करता

है परंतु उसको सिद्ध नहीं कर सकता । इसी तरह, अनेक अन्य सिद्धांत भी हैं, यथा प्रकृति की एकरुपता , सामान्य कारणता और प्रकृति के स्वरुप में सरलता इत्यादि। विज्ञान इन्हें सत्य मान लेता है जो आस्था ही है । फलस्वरुप विज्ञान सत्य का ज्ञान है, यह दावा कदाचित उचित नहीं है। प्रो. सेठ इस बात पर बल देते हैं कि वे विज्ञान के मूल्य को कमतर नहीं आँक रहे या उसकी अवमूल्यन नहीं कर रहे। उनकी दृष्टि में विज्ञान और धर्म दोनों में बौद्धिकता व आस्था की भूमिका है। उन्होंने यह रेखांकित किया कि धर्म, अध्यात्म व नैतिकता में अपनी एक अलग तरह की बौद्धिकता है जो वैज्ञानिक आनुभाविक प्रमाणीकरण से स्वरुपत: भिन्न है। इसीलिए यह कहना भी गलत है कि धर्म व अध्यात्म वैज्ञानिक है। ऐसा हम विज्ञान से अभिभूत होकर कहने लगते हैं। वस्तुत: आधुनिक विज्ञान तथा धर्म या अध्यात्म के सिद्धांतों व विधियों में मूलभूत अंतर है। प्रो. सेठ के अनुसार, विज्ञान व धर्म एक दूसरे के पूरक हैं और अपने-अपने ढंग से पृथक-पृथक मूल्यों की खोज में लगे हुए हैं। उनके अनुसार, विज्ञान सत्य का नहीं, बल्कि मूल्यों का ज्ञान देता है क्योंकि विज्ञान के सिद्धांत हमारे अनुभव के समस्त तथ्यों को एकता के सूत्र में बांधने के आदर्श से प्रेरित हैं और इसीलिए विज्ञान एक संसक्त विश्व-चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। इस प्रकार, वह एक तरह की मूल्य-दृष्टि ही है। जो लोग विज्ञान को महत्व देते हैं, वे समझते हैं कि विज्ञान को यह अधिकार है कि वह नैतिकता व धर्म को नकार दे। किंतु प्रो. सेठ के अनुसार यही सत्य है कि नैतिकता व धर्म की भाँति ही, विज्ञान भी अपने ढंग से, अपने तरह के मूल्यों की खोज करता है और यही विज्ञान का महत्व है।[(2)]

प्रो. सेठ ने समकालीन विश्व में मूल्यों के संकट पर भी अपनी आलोचनात्मक दृष्टि डाली है।[(3)] उन्होंने इस संकट की जड़ में कुछ मूलभूत कारणों की चर्चा की है। उनके अनुसार, इस संकट का पहला कारण है, हमारे समाज का आर्थिक ढाँचा जहाँ बाज़ार मनुष्य के आपसी सामाजिक संबंधों का नियंता बन गया है, जिससे व्यक्ति सहज पारस्परिक संबंधों से दूर हो जाता है। दूसरा कारण है, उपभोक्तावाद, जब व्यक्ति अपने ही लिए अधिकाधिक संसाधन व उपयोग की सामग्रियों को जमा करना चाहता है। प्रो. सेठ के अनुसार, मूल्यों के संकट का तीसरा कारण है, उस भौतिक सुख की खोज में लगे रहना जो अंतत: व्यक्ति को सच्चे आनंद से दूर ले जाता है। ये परिस्थितियाँ मनुष्य को एक एकाकी प्राणी बना देती हैं जहाँ वह अपने स्वरुप और साथियों से दूर चला जाता है। इसी की वजह से व्यभिचार, अपराध और सभी प्रकार की हिंसा में तेजी से वृद्धि होती है। इस कष्टकारी व विध्वंसकारी स्थिति के समाधान के रुप में, प्रो. सेठ का सुझाव है - व्यक्ति में प्रेम तथा रचनात्मक क्रियाओं की क्षमता को विकसित करना। प्रेम के विषय में प्रो. सेठ का विचार है कि

यह कोई साधारण निष्क्रिय अनुभूति नहीं है बल्कि एक बौद्धिक संकल्प है जिसमें व्यक्ति के पूरे व्यिक्त्व का विकास निहित होता है। एरिक फ्रॉम (जर्मन-अमेरिकन विचारक, 1900-1980) के प्रेम संबंधी विचारों को स्वीकार करते हुए, उनका मानना है कि प्रेम का मूल स्वरुप 'देना' या 'प्रदान करना' है न कि लेना या प्राप्त करना।(4) प्रेम में व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में जो भी कुछ सकारात्मक या अच्छा है, उसे 'देता' है और प्रेम के पात्र को संपन्न बनाता है। इसी कारण यह व्यक्ति की समस्त क्षमताओं की अभिव्यक्ति है। साथ ही, इस प्रेम का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है कि यह इस अर्थ में अविभाज्य है कि यह किसी एक व्यक्ति तक सीमित नहीं रहता और जो एक को प्रेम करता है, वह स्वरुपत: सभी को प्रेम करता है। यदि आप एक को प्रेम करते हैं तो आप सभी व्यक्तियों को प्रेम करते हैं, आप प्रकृति को प्रेम करते हैं, आप जीवन जीने (life as such) को ही प्रेम करते हैं(5)। प्रेम के उपर्युक्त सच्चे स्वरुप को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को अपने संपूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना, उसे समृद्ध बनाना अनिवार्य है जो कि एक रचनात्मक क्रिया है।

प्रो. सेठ के दर्शन विषय के प्रति योगदान का विवरण यहीं समाप्त नहीं हो जाता। उनके अनेक लेखों का उल्लेख किए बिना यह पत्र अधूरा रहेगा। ''द फॉर्मेशन ऑफ कॉन्सेप्ट'', ''द कॉन्सेप्ट ऑफ मैटर'', ''दर्शन, साहित्य और संस्कृति में संबंध'', ''विज्ञान : एक मूल्य दृष्टि'', ''साइंस एंड ट्रूथ'', ''क्राइसेस ऑफ वैल्यूज़'', इत्यादि उनके सभी लेख एक दार्शनिक व चिंतक के रुप में उनकी गहन अध्ययनशीलता व वैचारिक क्षमता को प्रदर्शित करते हैं। उनके उद्बोधन भी बहुत सारगर्भित होते हैं। उन्होंने जून 2014 में लंदन में अखिल भारतीय दर्शन परिषद, अक्षरधाम तथा न्यूज़ीलैण्ड की एक संस्था द्वारा ''ग्लोबल पीस एंड हिंदू टीचिंग्स' विषय पर सम्मिलित रुप से आयोजित अंतर्राष्ट्रीय अधिवेशन में ''ग्लोबल पीस एंड फिलॉसफ़ी'' शीर्षक से अपना उद्बोधन प्रस्तुत किया जो अत्यंत सराहा गया। इसी तरह, अखिल भारतीय दर्शन परिषद के जबलपुर अधिवेशन में (अक्टूबर, 2014) आपके अध्यक्षीय भाषण का विषय था ''विज्ञान और अध्यात्म''। उत्तर भारत दर्शन परिषद के गोरखपुर अधिवेशन में प्रो. सेठ ने अपने अध्यक्षीय उद्बोधन का विषय चुना ''आज का संकट और दर्शन''। उनके ये सभी उद्बोधन विचारोत्तेजक व लोकप्रिय रहे। जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, कानपुर आई.आई.टी., लखनऊ विश्वविद्यालय, जैसे अनेक स्थानों में दिए गए प्रो. सेठ के भाषणों-उद्बोधनों ने श्रोताओं को दर्शन व जीवन की अनेक समस्याओं पर गहन विचार करने के लिये प्रेरित किया।

अंत में एक महत्वपूर्ण बात और ! प्रो. सेठ के हृदय में हिंदी भाषा के प्रति

विशेष सम्मान व लगाव है यद्यपि वे अंग्रेजी भाषा में भी समान अधिकार रखते हैं। उनका मानना है कि अपनी बातों, विचारों, सिद्धांतों की अभिव्यक्ति अपनी ही भाषाओं में सर्वश्रेष्ठ रुप से की जा सकती है । इसीलिए उन्होंने अपनी समस्त पुस्तकों का लेखन हिंदी भाषा में ही किया है। मगर यह भी समझ लेना होगा कि उन्होंने हिंदी व अंग्रेज़ी में विकल्प की स्थिति नहीं स्वीकार की है। प्रो. सेठ का मत है कि अभिव्यक्ति की भाषा के रुप में हिंदी को मान्यता मिलनी चाहिए, मगर अंग्रेज़ी भाषा को भी इस दृष्टि से महत्व देना चाहिये कि वह देश-विदेश का ज्ञान-विज्ञान व दर्शन संबंधी विशाल साहित्य हमें उपलब्ध कराती है, फलत: इस भाषा में हमारी पकड़ व समझ से अकादमिक स्तर उन्नत होता है । इस तरह, ज्ञान-पिपासु व्यक्ति का दोनों भाषाओं में बराबर का अधिकार रखना आवश्यक है । उनका मत है कि अंग्रेज़ी में उपलब्ध साहित्य का हिन्दी में अनुवाद किया जाना चाहिए ताकि हिंदी ज्ञान-साहित्य और अधिक समृद्ध हो सके । साथ ही, अंग्रेज़ी में उपलब्ध वृहद् ज्ञान-साहित्य से युक्त होकर हिंदी भाषा में कुछ नया लिखने का भी प्रयास किया जाना चाहिए। हमारी भाषा हिंदी, हमारी संस्कृति और दर्शन-धारा तभी रचनात्मक व गतिशील होगी जब वह नये व अन्य भिन्न-भिन्न विचारों को अपने भीतर समाहित करेगी।(6)

संदर्भ एवं टिप्पणी

1. ज्ञान दर्शन : फिलॉसाफ़ी ऑफ़ नॉलेज़ : सेठ, श्याम किशोर व मिश्र, नीलिमा, (द्वितीय संस्करण) 2011 : लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; (ISBN : 978-81-8031-620-3) : पृ. 7-10

2. 'विज्ञान, सत्यता और मूल्य' (लेख) तथा 'विज्ञान और अध्यात्म' - प्रो. श्याम किशोर सेठ द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद, 59 वाँ अधिवेशन के अध्यक्षीय उद्बोधन से उद्धृत् ।

3. 'क्राइसिस ऑफ वैल्यूज़ इन कंटेपररी वर्ल्ड' - सेमिनार - विषय : क्राइसिस ऑफ वैल्यूज़- ई.सी.सी. इलाहाबाद के 'की नोट' व्याख्यान एवं 'आज का संकट और दर्शन' - प्रो. श्याम किशोर सेठ द्वारा उत्तर भारत दर्शन परिषद के गोरखपुर अधिवेशन के अध्यक्षीय उद्बोधन से उद्धृत् ।

4. द आर्ट ऑफ़ लविंग : एरिक फ्रॉम, (1985) मंडला, हार्पर कॉलिंस पब्लिशर्स, ISBN 0041570073 ; पृ. 25-28

5. उपर्युक्त : पृ. 43

6. प्रो. सेठ के साथ इस विषय में वार्तालाप पर आधारित ।

दर्शन विभाग
जगत तारन गर्ल्स डिग्री कॉलेज
इलाहाबाद

वैदिक अध्यात्मवाद, भौतिकी एवं समग्र दृष्टि

- डॉ. नीरज कुमार पाण्डेय

सारांश

संपूर्ण भारतीय दर्शन में अध्यात्मवाद और भौतिकवाद दो महत्वपूर्ण विचारों का उल्लेख मिलता है। चेतना को एकमात्र सत्ता के रूप में स्वीकार करने वाली विचारधारा को अध्यात्मवाद कहा जाता है, जबकि जड़ एकमात्र सत्ता को स्वीकार करने वाली विचारधारा को भौतिकवाद कहा जाता है। अर्थात जो चेतना से ही सब कुछ को स्वीकार करते हैं उन्हें अध्यात्मवाद या अभौतिकवाद कहा जाता है जबकि जो जड़ से ही सब कुछ स्वीकार करते हैं उन्हें भौतिकवाद या लोकायतवाद कहा जाता है। एक दूसरी परिभाषा मिलती है कि जब मन आत्मा के विषय में चिंतन करता है तो अध्यात्म की तरफ गमन करता है, जबकि वही मन जब अपने शरीर का चिंतन करता है, तो वह भौतिक की तरफ गमन करता है। मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥ मन ही सभी मनुष्यों के बन्धन एवं मोक्ष की प्रमुख कारण है। विषयों में आसक्त मन बन्धन का और कामना-संकल्प से रहित मन ही मोक्ष (मुक्ति) का कारण कहा गया है ॥

अर्थात् आध्यात्मिक उसे कहते हैं जो अभौतिक हो, लेकिन अभौतिक क्या है ? इसे समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि भौतिक क्या है? प्रश्न उठता है कि सिर्फ भौतिक को जान लेना या सिर्फ अभौतिक को जान लेना एकांगी ज्ञान ही हो सकता है। श्री अरविंद अपनी लाइफ डिवाइन में दो निषेधों की बात करते हैं, उनका मानना है कि जड़वाद मैटेरियलिज्म एवं अध्यात्मवाद स्पिरिचुअलिज्म दोनों का खंडन कर उनमें समन्वय करते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मात्र आत्मा पर बल देना यथेष्ट नहीं है उनके साथ-साथ जड़त्व के महत्व को भी समझना उतना ही आवश्यक है। अरविंद के अनुसार the affirmation of a divine Life on earth and an immortal sense in mortal existence can have no base unless we recognise not only eternal spirit as the inhabitant of this bodily mansion, the wearer of this mutable role, but accept matter of which it is made, as a fit and Noble material out of which he weaves constantly his garbs, builds recurrently the unending series of his mansions.

कृष्णमूर्ति ने भी कहा है कि जो अंदर है वही बाहर है , जो बाहर है, वही अंदर है, अंदर और बाहर में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं है। इस प्रकार जो लौकिक है वही पारलौकिक है और जो पारलौकिक है वही लौकिक है। लौकिक और पारलौकिक में अंतर करना उचित दृष्टि नहीं हो सकता है। अतः वास्तविकता तो यह है कि भौतिक से अभौतिक की तरफ गमन करना ही समग्र दृष्टि है।

मुख्य शब्द : अध्यात्म/अभौतिक - चेतना का ज्ञान, भौतिक-जड़ का ज्ञान, मन-विचार/अवधारणा, समग्र - संपूर्णता का ज्ञान या सर्वांगीणता का ज्ञान या संबंध में समन्वय।

संपूर्ण भारतीय दर्शन में अध्यात्मवाद और भौतिकवाद दो महत्वपूर्ण परंपराओं का उल्लेख मिलता है। चेतना को एकमात्र सत् सत्ता के रूप में स्वीकार करने वाली विचारधारा को अध्यात्मवाद कहा जाता है, जबकि जड़ एकमात्र सत् सत्ता को स्वीकार करने वाली विचारधारा को भौतिकवाद कहा जाता है। अर्थात जो चेतना से ही सब कुछ को स्वीकार करते हैं उन्हें अध्यात्मवाद या अभौतिकवाद कहा जाता है जबकि जो जड़ से ही सब कुछ स्वीकार करते हैं उन्हें भौतिकवाद या लोकायतवाद कहा जाता है। एक दूसरी परिभाषा मिलती है कि जब मन आत्मा के विषय में चिंतन करता है तो अध्यात्म की तरफ गमन करता है, जबकि वही मन जब अपने शरीर का चिंतन करता है, तो वह भौतिक की तरफ गमन करता है। मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥[1] मन ही सभी मनुष्यों के बन्धन एवं मोक्ष की प्रमुख कारण है। विषयों में आसक्त मन बन्धन का और कामना-संकल्प से रहित मन ही मोक्ष (मुक्ति) का कारण कहा गया है। आध्यात्मिक उसे कहते हैं जो अभौतिक हो। भौतिक क्या है इसे समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि भौतिक क्या है। भौतिक का विश्लेषण करने वाली विज्ञान की शाखा को भौतिकी कहते हैं। भौतिक कणों, पदार्थ तथा क्षेत्र की गति के गुणों तथा नियमों, परमाणुओं की रचना, गुरुत्वीय, विद्युतीय, चुंबकीय और आण्विक प्रकियाओं का विज्ञान है। प्राचीन काल में प्रकृति से संबंधित संपूर्ण ज्ञान को भौतिकी से संबंधित किया गया। बाद में भौतिकी को पिंडों की गति को शासित करने वाले नियमों अर्थात् यांत्रिकी, ध्वनि, तापीय, विद्युतीय, चुंबकीय तथा प्रकाशीय परिघटनाओं के कारणों से संबंधित अध्ययन समझा जाने लगा। भौतिकी के अनुसार जो स्थान घेरता हो एवं जिसमें भार हो, वह द्रव्य है। प्रश्न यह है कि द्रव्य क्यों स्थान घेरता है? उसमें भार क्यों है? इन प्रश्नों के उत्तर में हमें जगत् के विश्लेषण की ओर ले जाता है। वेद के अनुसार जगत तरंगों का बना है, प्रत्येक तत्व तरंगमय

है। जगत कणों का अथवा तरंगों का समूह है। यजुर्वेद के 15वें अध्याय का 17वाँ श्लोक समंसर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्व।[2] ध्वनि की लहरें सर्पणशील हैं। यजुर्वेद के 26 अध्याय के 9वें श्लोक में अग्निऋृषि पवमानः.।[3] अग्नि की धाराएँ बह रही हैं। यजुर्वेद के 12 अध्याय का 8वां श्लोक अग्ने अग्ड़िर: शर्त ते सन्तवावृतः सहस्रं त उपावतः।[4] अग्नि की तरंगे सैकड़ो हजारों की संख्या में आरोहण एवं अवरोहण करती हैं। विज्ञान के प्रारंभ में वैदिक मतों के विपरीत क्वांटम सिद्धांत में यह मत व्यक्त किया कि जगत कणों से मिलकर बनता है। डाल्टन के अणु सिद्धांत के अनुसार अणु अविभाज्य हैं, इनका खंडन नहीं हो सकता है। यह सबसे वस्तु की सबसे छोटी इकाई हैं, लेकिन विज्ञान ने पुनः अपने को सुधारते हुए अणु का विभाजन इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन और न्यूट्रॉन में मान लिया और आगे चलकर मैक्स प्लैंक के प्लैंक- सिद्धांत में यह स्वीकार किया कि जगत् तरंगों का समूह है। आइंस्टीन के अणु सिद्धांत के अनुसार द्रव्य ऊर्जा में, एवं ऊर्जा द्रव्य में बदला जा सकता है। उर्जा = द्रव्य × प्रकाश की गति ($E=MC^2$)। यहाँ पर आकर वेदों की व्याख्या की पुष्टि हो जाती है। वेदों के विचारों का विश्लेषण करते हुए यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि उसका उष्मा, प्रकाश, ध्वनि आदि जो विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं यथार्थ में ऊर्जा के ही विभिन्न स्वरूप हैं। इसके आगे भी हम कह सकते हैं कि तरंगों के स्वरूप आवर्तन, प्रत्यावर्तन, आयाम, तरंग- दैर्ध्य एवं तरंग-दिशा पर उनका विश्लेषण सराहनीय है। ऋग्वेद के एक श्लोक यददेवानां मित्रषहः पुरोहितोऽन्तरो यासि दूत्यम। सिन्धोरिव प्रस्वनितायऽऊर्षयोडग्ने भ्रजिन्तेऽर्चय:।।[5] में कहा गया है कि ऊष्मा से प्रकाश, प्रकाश से शक्ति, एवं उससे ध्वनि-तरंगों का निर्माण होता है, जो लहरें आवर्तन-प्रत्यावर्तन रूप से ऊपर की उठती हुई गमनशील समुद्र की तरंगों की तरह गतिशील होती हैं। आइंस्टीन ने स्वीकार किया कि ऊष्मा, प्रकाश, ध्वनि आदि एक ही शक्ति के विकरण मात्र हैं। ऋग्वेद के अनुसार अंतरिक्ष में विद्युत की लहरें चल रही हैं। चरन्ति विद्युतोदिवि।[6] ऋग्वेद का समर्थन करते हुए भौतिकी कहती है कि विद्युत एक चुंबकीय क्षेत्र का निर्माण करती है जो वृत्ताकार होता है। अर्थात् विद्युत चुंबकत्व की शक्ति के कारण ही द्रव्य स्थान गिरता है। यदि विद्युत चुंबकत्व समाप्त हो जाए तो सीमाबद्धता भी समाप्त हो जाएगी और यहीं भौतिकता अभौतिकता में बदल जाती है।

विद्युत का उद्भव स्पंदन है जिसे वेदों के अनुसार हम तालक्रम कह सकते हैं। जब अनंत में कहीं स्पंदन होता है तब जगत् की उत्पत्ति होती है और जब स्पंदन शांत हो जाता है तो जगत का लय हो जाता है।

सोवियत वैज्ञानिक कोजीरोव के अनुसार काल भी ऊर्जा है। जिसका घनत्व कारण की ओर कम एवं कार्य की ओर अधिक होता है। काल ऊर्जा से ही कालचक्र का जन्म होता है। गति, क्षेत्र, सापेक्षता सभी कालचक्र के आयाम है। कालचक्र का प्रवाहित रहना ही मृत्यु एवं रुक जाना ही अमरत्व है। कालचक्र का अतिक्रमण करने में मानव समर्थ है। श्री अरविंद के अनुसार मृत्यु का वर्णन करना ही मोक्ष है, विवश होकर मृत्यु को प्राप्त होना ही बंधन है। कोजीरोव के अनुसार मानव संकल्प से काल ऊर्जा का घनत्व घटाया या बढ़ाया जा सकता है। यह संकल्प शक्ति जब मनुष्य में आ जाती है तब वह प्रकृति का अनुगमन न करके प्रकृति ही उसका अनुगमन करने लगती है अर्थात मनुष्य इस भौतिक से मुक्त होकर अभौतिक हो जाता है, अर्थात् मुक्त हो जाता है।

वेदों में जो तालक्रम है, वही भौतिकी का गुरुत्वाकर्षण है। द्रव्य में गुरुत्वाकर्षण के कारण ही भार होता है जिसे भौतिक शास्त्र में एक सूत्र - द्रव्यमान + गुरुत्वाकर्षण = भार । आइंस्टीन के अनुसार जगत् को धारण करने वाली दो शक्तियां हैं- विद्युत चुंबकत्व तथा गुरुत्वाकर्षण। वेदों में तालक्रम ही इन दोनों शक्तियों का स्रोत है। अभौतिक को वेदों में ब्रह्म कहा गया है। अभौतिक से भौतिक को भिन्न स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि अध्यात्मवाद एवं भौतिकवाद एक ही हैं। एक ही तत्व से निर्मित हैं। अंतर केवल अवस्था का ही है। भौतिक वह है जो तालक्रम के अंतर्गत है। इसीलिए भौतिक काल, गति एवं क्षेत्र की अपेक्षा करता है। अभौतिक वह है जो लयक्रम के अंतर्गत है, जो काल, गति एवं क्षेत्र की अपेक्षा नहीं करता। भौतिक तालबद्ध है, अभौतिक लयबद्ध है। भौतिक सीमित है। अभौतिक अनंत। भौतिक सापेक्ष है, अभौतिक निरपेक्ष। मानव तालबद्ध की खोज में लगा हुआ है। जबकि मनुष्य का वास्तविक दृष्टि तालबद्ध से लेकर लयबद्ध का अन्वेषण करना मानव का स्वाभाविक खोज है। श्री अरविंद अपनी लाइफ डिवाइन में दो निषेधों की बात करते हैं, उनका मानना है कि जड़वाद मैटेरियलिज्म एवं अध्यात्मवाद स्पिरिचुअलिज्म दोनों का खंडन कर उनमें समन्वय करते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मात्र आत्मा पर बल देना यथेष्ट नहीं है उनके साथ-साथ जड़त्व के महत्व को भी समझना उतना ही आवश्यक है। अरविंद के अनुसार the affirmation of a divine Life on earth and an immortal sense in mortal existence can have no base unless we recognise not only eternal spirit as the inhabitant of this bodily mansion, the wearer of this mutable role, but accept matter of which it is made, as a fit and Noble material out of which he weaves constantly his garbs, builds recurrently the unending series of his mansions.[7] कृष्णमूर्ति ने भी कहा है कि जो अंदर है वही

बाहर है, जो बाहर है, वही अंदर है, अंदर और बाहर में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं है।[8] इस प्रकार जो लौकिक है वही पारलौकिक है और जो पारलौकिक है वही लौकिक है। लौकिक और पारलौकिक में अंतर करना उचित दृष्टि नहीं हो सकता है। अतः वास्तविकता तो यह है कि अध्यात्मवाद एवं भौतिकवाद की अलग-अलग खोज एक एकांकी दृष्टिकोण हो सकता है जबकि भौतिकवाद से अध्यात्मवाद, अध्यात्मवाद से भौतिकवाद की विचारधारा ही समग्र दृष्टि हो सकती है।

सन्दर्भ

1. अमृतबिन्दूपनिषद्, 6/34
2. यजुर्वेद 15/7
3. यजुर्वेद 26/9
4. यजुर्वेद 12/8
5. ऋग्वेद 1/44/12
6. ऋग्वेद 9/41/3
7. घोष, श्री अरविंद, द लाइफ डिवाइन, इंडिया लाइब्रेरी समिति, पृष्ठ संख्या 8
8. कृष्णमूर्ति, जे०, प्रथम एवं अंतिम मुक्ति, कृष्णमूर्ति फाऊंडेशन, राजघाट, बनारस, पृष्ठ सं. 14

सहायक आचार्य
दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
प्रयागराज, 8896462427

मानव व्यक्तित्व निर्माण में वैदिक संस्कार की भूमिका : एक विमर्श

– डॉ. सुनील कुमार शुक्ला

प्राचीन भारतीय संस्कृति की परम्परा में मुनष्य के व्यक्तित्व के चतुर्दिक विकास के लिए 'संस्कार' का महत्वपूर्ण स्थान है। सामान्यत: संस्कार शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की समपूर्वक कृत धातु घञ् प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है-परिष्करण संशुद्धि तथा शुचिता। दूसरे शब्दों में मनुष्य के स्वभाव मनोभाव को एक व्यवस्थित रूप प्रदान करने वाली प्रक्रिया को संस्कार कहते है। जिस प्रकार स्वर्णकार अव्यवस्थित रूप धारण किए हुए स्वर्ण के टुकड़े को निखार कर मनोवांछित आभूषण बनाता है उसी प्रकार व्यक्ति के पूर्वजन्म एवं वंशानुक्रम से प्राप्त दुर्गुणों को निकालकर उसमें सद्गुण स्थापन के प्रयत्न को वैदिक विचारधारा में संस्कार कहा गया है।

आचार्य चरक ने चरक सहिता में संस्कार को परिभाषित करते हुए कहा है- "संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते"[1] अर्थात् पहले से विद्यमान व्यक्ति के व्यक्तित्व में दुर्गुणों को हटाकर उसके स्थान पर सद्गुणों का आधान करना ही संस्कार है। इसी प्रकार तन्त्रवार्तिककार ने योग्यता आधान को संस्कार मानते हुए कहा है- "योग्यताञ्चोदधाना: क्रिया: संस्कारा इत्युच्यन्ते।"[2] आगे चलकर आचार्य शंकर ने गुणाधान या दोषापनयन को संस्कार मानते हुए वेदान्त सूत्र शाङ्करभाष्य में कहा है "संस्कारों हि नाम गुणाधानेन वास्य दोषापनयनेन वा"।[3] आगे चलकर यह स्वभाविक प्रश्न उठता है कि हम किस प्रकार मानव में अच्छे गुणों को स्थापित कर सकते हैं? क्योंकि मनुष्य का निर्माण माता-पिता के रजों वीर्य से होता है।

उल्लेखनीय है कि जिन विशेषताओं वाला रजस् एवं वीर्य होगा, उन्हीं गुणों से युक्त सन्तान होगी, इन परिस्थितियों के सापेक्ष उसे बदला कैसे जा सकता है? इस प्रश्न के सन्दर्भ में विचारकों के दो वर्ग सामने आते हैं- वंशानुक्रमवादी तथा पर्यावरणवादी।

वंशानुक्रमवादी विचारधारा को मानने वाले गाल्टन, जिजमैन इत्यादि वैज्ञानिकों को मानना है कि प्राणी जो कुछ भी है वह वंशानुक्रम का ही परिणाम है, उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। इस मत के विपरीत पर्यावरणवादी विद्वानों यथा डॉ. नेफास इत्यादि का विचार है कि वंशानुगत गुणों को भी इच्छित पर्यावरण द्वारा बदला जा सकता है, उदाहरणार्थ जल की बूँद तपते हुए लौह खण्ड के सम्पर्क में आने पर तत्काल नष्ट हो सकती है, और शीतल स्थान घास आदि के पत्तियों पर पड़ने प्रात:काल सूर्य लालिमा युक्त किरणों के पड़ने पर शोभायमान होने लगती है। जीन्स पर शोध करने वाले नोबल पुरस्कार प्राप्त वैज्ञानिक डॉ. हरगोविन्द खुराना का यहाँ तक कहना है कि किसी गुण विशेष के जीन्स को प्रजनन तत्व में से निकालकर अभीप्सित गुण वाले जीन्स के आरोपण द्वारा मन चाहे गुणों वाली सन्तान उत्पन्न की जा सकती है। वह समय अब दूर नहीं जब आवश्यकतानुसार सुकरात, प्लेटो, न्यूटन, आइंस्टीन तथा शेक्सपियर पैदा किये जा सकेगें।

उपरोक्त मान्यताओं के संदर्भ में एफ.एन. फ्रीमैन मिस बी.एस. वक्स तथा अयोबा विश्वविद्यालय ने विस्तृत परीक्षण करके यह सिद्ध कर दिया है कि मानव के व्यक्तित्व विकास में न तो पूर्णत: वंशानुक्रम का सिद्धान्त लागू होता है और न ही पर्यावरण का। पहला मत अति निराशावाद की ओर ले जाता है तो दूसरा अत्यन्त आशावाद की ओर। अत: आधुनिक विचारक एवं समाजशास्त्रीय इस प्रश्न में नहीं उलझना चाहते कि व्यक्तित्व विकास में कौन कारक अधिक प्रभावित करता है- वंशानुगत या पर्यावरण, अपितु वे उनके समन्वित अध्ययन पर विशेष बल देते है, ताकि व्यक्तित्व का चतुर्दिक विकास हो सके। प्राचीन भारतीय संस्कार व्यवस्था में यही समन्वयवादी विचार देखने को मिलता है, क्योकि इसमें माता-पिता द्वारा प्राप्त संस्कारों की प्रबलता में सन्देह नहीं किया जाता, फिर भी समुचित पर्यावरण के द्वारा नवीन संस्कारों से पुराने संस्कारों को परिवर्तित करने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि वैदिक संस्कारों का आयोजन पूर्णत: समाजशास्त्रीय चिन्तन पर आधारित है और इस व्यवस्था के मूल में यह तथ्य निहित है कि संस्कार द्वारा एक अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है।

मानव के सन्दर्भ में प्रश्न यह उठता है कि यद्यपि वह सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है तथापि उसके व्यक्तित्व के निर्माण का क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न का उत्तर होगा कि हम आज वैज्ञानिक तथा भौतिक साधनों के द्वारा देश

समाज को उन्नति एवं समृद्धि के शिखर पर पहुँचाने की विभिन्न योजनाएँ बनाते है, उन्हें तत्परतापूर्वक क्रियान्वित भी करते है परन्तु उनका अभीष्ट लाभ नहीं उठा पाते, वे हमें सुख-शान्ति देने के स्थान पर पारस्परिक ईष्र्या-द्वेष तथा अशान्ति का कारण बन जाती है। इसका कारण स्पष्ट है कि आज जिस समाज के व्यक्तियों को ऊपर उठाने की योजनायें बनती है उसमें मानव के वैयक्तिक-शारीरिक एवं मानसिक विकास की ओर कोई समुचित ध्यान नहीं दिया जाता। वैज्ञानिक उपलब्धियों के इस युग में व्यक्ति निरंतर उपेक्षित होता जा रहा है। शारीरिक रूप से दुर्बल और मानसिक रूप से असमर्थ व्यक्ति किसी भी वस्तु का सच्चा उपभोग नहीं कर सकता और न ही ऐसे दुर्बल असमर्थ व्यक्तियों वाला समाज फूल-फल सकता है। स्वामी रामतीर्थ के शब्दों में 'समाज की उन्नति बड़े (वैभवशाली) लोगों के छोटे विचारों से नहीं अपितु छोटे (भौतिक साधनों से रहित होने से समाज में हेय दृष्टि से देखे जाने वाले) लोगों के बड़े विचारों से होती है। उदाहरणार्थ लंका नरेश रावण के पास किसी भी प्रकार के धन-जन-बल एवं वैभव की कमी नहीं थी, किन्तु वहाँ के लोगों का वैचारिक स्तर निम्न था जिसके कारण वे लोगों को असीम कष्ट पहुँचाए और स्वत: उन्हें अपने कर्मों का फल भोगना पड़ा और अन्तत: उनका सब कुछ नष्ट हो गया।

वैदिक ऋषियों ने उक्त तथ्य को समझा, समाज को ऐश्वर्य से नहीं अपितु शारीरिक एवं मानसिक रूप से उत्कृष्ट व्यक्ति सौंपकर उसे बदलने का स्वप्न देखा और संस्कार पद्धति को जन्म दिया। इस प्रकार संस्कार योजना व्यक्तिपरक होते हुए भी प्रमुखतया एक स्थायी एवं सुदृढ़ समाज की आधारशिला है। इसके द्वारा सामाजिक समस्याओं का वैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत किया गया है। संस्कार के सन्दर्भ में प्रो. राजबली पाण्डेय का कहना है कि ''संस्कार मनुष्य के हर्ष-विवाद आदि मनोभावों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। विघ्न-बाधाओं और अशुभ शक्तियों से जीवन-रक्षा लौकिक समृद्धि, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा अध्यात्मिक विकास जैसे अभीष्ट की प्राप्ति संस्कारों का प्रयोजन है। वैदिक संस्कार व्यवस्था सर्वहित के लिए है।

क्योंकि वैदिक संस्कार व्यवस्था का आज भी जीवित रहना इस तथ्य का प्रबलतम् प्रमाण है कि उसका प्रयोजन व्यष्टिगत हित न होकर समष्टिगत शुभ है। यह सर्वविदित तथ्य है कि प्रत्येक व्यक्ति समाज का एक महत्वपूर्ण अवयव है, समाज को उच्चतर अथवा निकृष्टतर बनाने में

उसका विशिष्ट योगदान होता है। यही नहीं कोई भी व्यक्ति कभी पूर्ण नहीं हो सकता। मानव जीवन निरन्तर प्रवाहमान है जिसमें ऊपर उठने तथा नीचे गिरने की स्थिति सदैव बनी रहती है। अतएव वैदिक मनीषियों ने मनुष्य को उनके जन्म के पूर्व से लेकर मृत्यु के बाद तक सुसंस्कृत करते रहने की योजना बनायी ताकि उसके पतित होने की संभावना कम से कम रहे।

प्रत्यक्षत: यह योजना व्यक्तिपरक दृष्टिगोचर होती है, परन्तु सूक्ष्म अवलोकन से यह तथ्य सामने आता है कि इसका प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति के माध्यम से समाज और राष्ट्र को उन्नत बनाना है।

संस्कारों का विस्तारपूर्वक उल्लेख गृहसूत्रों तथा स्मृति ग्रन्थों में देखने को मिलता है। अब तक उपलब्ध साहित्य में संस्कारों की संख्या 10 से 40 तक देखी जा सकती है। हिरण्यकेशि तथा कौशित गृह्यसूत्रों में संस्कारों की संख्या 10 मानी गयी है, खादिर एवं जैमिनी सूत्र में 11 मनुस्मृति में 14 गौतम ने इसकी संख्या 40 बताया है। मतैक्यता का अभाव होते हुए भी प्राय: सभी धर्मशास्त्रकारों ने इसकी संख्या 16 मानते हैं यथा- गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोत्रयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास तथा अन्त्येष्टि। उल्लेखनीय है कि कुछ विद्वानों ने षोडश संस्कारों में वानप्रस्थ तथा संन्यास की गणना संस्कार के रूप में नहीं करते है और प्राय: विवाह के बाद अन्त्येष्टि का नामोल्लेख करते है। ऐसा प्रतीत होता है कि वानप्रस्थ और संन्यास संस्कार नहीं हो सकते क्योंकि इन्हें आश्रम माना गया है, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वस्तुत: आश्रमों में ही सारे संस्कार समाहित है। इस प्रकार वानप्रस्थ एवं संन्यास नि:संदेह व्यक्ति की भावनाओं के परिष्कार है, फलत: उन्हें संस्कार मानना अनौचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता। विचार करने पर ज्ञात होता है कि आश्रम आत्मोत्कर्ष की विभिन्न स्थितियों-स्वार्थ से परार्थ के विकास की कथा की दृष्टि से किये गये आयु के विभाजन है, जबकि संस्कार इन अवस्थाओं में होने वाले व्यक्ति के परिष्कार की वास्तविक अवस्थायें हैं। व्यक्ति की अवस्था ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसके विचारों को प्रभावित कर पाना कठिन हो जाता है। यही कारण है कि प्राचीन मनीषियों ने आरंभिक संस्कारों में समयान्तराल अल्प रखा जबकि विवाह के बाद होने वाले वानप्रस्थ एवं संन्यास संस्कारों में 25-25 वर्षों का अन्तर निर्धारित किया। वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम में संस्कारों की विविधता के अभाव का यह

सबसे महत्वपूर्ण कारण माना जा सकता है। उल्लेखनीय है कि संस्कारों के सामान्यत: दो पक्ष है सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक। व्यावहारिक पक्ष देश-काल परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित हो सकता है परन्तु सिद्धान्त वही रहता है। प्राचीन काल में संस्कार का अनुष्ठान वैदिक मन्त्रों के साथ किया जाता था, आज इष्ट-मित्रों को आमंत्रित करके या अधिक से अधिक कुछ पूजा-पाठ करके ही संस्कार पूरा कर लिया जाता है। परम्परागत रूप से मान्य षोडश संस्कार का विवेचन निम्न है-

1. गर्भाधान संस्कार

गर्भाधान संस्कार का सामान्यत: अर्थ है-गर्भ का आधान, या गर्भ स्थापित करना। विवाहोपरान्त (सन्तान की कामना से) जिस कर्म द्वारा गर्भ धारण किया जाय उसे गर्भाधान कहा जाता है- गर्भ: सन्धार्यते येन कर्मणा तद् गर्भाधानमित्यनुगतार्थकर्मनामधेयम्। गर्भलम्भन, ऋतुगमन तथा चतुर्थी कर्म इसके अपर पर्याय है। वीरमित्रोदपकार के अनुसार स्त्री द्वारा पुरुष-बीज का धारण गर्भलम्भन है। पराशर की दृष्टि में स्त्री के ऋतुकाल में यदि पुरुष समागम नहीं करता तो वह भ्रूणहत्या का भागी होता है। इस प्रकार गर्भाधान (स्त्री-पुरूष के शारीरिक सम्पर्क) को ऋतुगमन कहा गया है। सुश्रुत की मान्यता के अनुसार स्त्री ऋतुकाल में चौथे दिन शुद्ध मानी जाती है। संभवत: इसीलिए चतुर्थी कर्म की संज्ञा प्रचलित हुई। प्राकृतिक विधान के अनुरूप स्त्री-पुरुष का पारस्परिक आकर्षण तथा उनका शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करना एक जैविकीय आवश्यकता है। सहवास सर्वथा एकान्तसेव्य और वैयक्तिक प्रक्रिया है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि फिर गर्भाधान को संस्कारों में क्यों परिगणित किया गया है? इसका समाजीकरण क्यों किया गया है? आचार्य सुश्रुत अपने संहिता के शरीर स्थान में कहते है- ऋतु, क्षेत्र, अम्बु और बीज इन चारों के विधिपूर्वक मिलने से अंकुर पैदा होता है, उसी प्रकार स्त्री-पुरुष के विधिपूर्वक संयोग से सन्तान का जन्म होता है। स्पष्टत: कहा जा सकता है कि यदि स्त्री-पुरूष के मिलन का परिणाम कुछ न होता, यह एक काम-क्रीड़ा मात्र रहता तो इस व्यक्तिगत कृत्य से समाज को कोई प्रयोजन न होता परन्तु यह एक निजी स्वार्थमयी क्रिया नहीं है अपितु इसके फलस्वरूप समाज को एक नया व्यक्ति मिलता है। यदि यह आने वाला जीवन अच्छे स्वभाव का हुआ तो अपने सदाचरण से समाज को एक नयी दिशा दे सकता है किन्तु यदि दुष्ट हुआ तो समाज को तहस-नहस भी कर सकता है। इस

तथ्य को ध्यान में रखते हुये प्राच्य मनीषियों ने सन्तानोत्पत्ति के बाद अवश्यम्भावी समस्याओं को उनका बीज पड़ने के समय ही, हल कर लेना चाहा। इसीलिए 'गर्भाधान' को सामाजिक तथा धार्मिक पवित्र संस्कार बना दिया गया। गरुड़पुराण में कहा गया है कि गर्भाधान के समय की शारीरिक तथा मानसिक अवस्था का सन्तान पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यह एक मनोवैज्ञानिक एवं चिकित्साशास्त्रीय तथ्य है। इसे श्लोक में व्यक्त करते हुए कहा गया है यथा-

निषेकसमये मादृड्.नरचित्तविकल्पना।
तादृक्स्वभावस्तम्भूतिर्जन्तुर्षिशति कुक्षिग:।।[4]

उपरोक्त प्रसंग का उदाहरण अभिमन्यु, अष्टावक्र, नेपोलियन, हिटलर, बिस्मार्क आदि की जीवन गाथाओं में मिलता है। अतएव गर्भाधान काल में भावी सन्तान की कुप्रवृत्तियों को दग्धबीज करने का प्रयास कोरी कल्पना नहीं कहा जा सकता।

जीव विज्ञान की दृष्टि से पुरुष में समागमेच्छा का कोई नियम नहीं है परन्तु स्त्री में ऋतु स्राव (मासिक धर्म) के कारण उनमें सम्भोग काल का एक निश्चित नियम है जिसके आधार पर सहवास का विधान है। याज्ञवल्क्य स्मृति में ऋतुस्नान के बाद चौथी रात्रि से सोलहवीं रात्रि तक गर्भधारण के लिए उपयुक्त अवधि मानी गयी है। आयुर्वेद में कहा गया है कि ऋतुस्राव बन्द हो जाने के बाद के 12 दिनों में सन्तान में आयु आरोग्य ऐश्वर्य, सौभाग्य, बल, वर्ण (रंग) और इन्द्रियों की उत्तरोत्तर प्रशस्ता रहती है इसके बाद आयु आदि गुणों का क्रमश: ह्रास होता है। अनेक स्त्रियों के ऋतु स्राव सम्बन्धी जीवन की जाँच के बाद आधुनिक वैज्ञानिक भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे है कि स्त्री में सम्भोग की प्रेरणा 15 दिन में दो बार होती है-एक प्रेरणा ऋतुस्राव होने के एक दो दिन पहले, दूसरी प्रेरणा ऋतुस्राव शुरू होनेके दिन से 15, 16 दिन तक। इनमें से पहली प्रेरणा गर्भाधान के लिए निरर्थक है परन्तु दूसरी सार्थक। इस प्रकार गर्भाधान हेतु निर्दिष्ट पूर्वाचार्यों का मत जीवविज्ञान तथा शास्त्रीय मान्यताओं के अनुरूप है। मनुस्मृति में कहा गया है कि युग्म रात्रियों (6वीं 8वीं आदि) में गर्भाधान से पुत्र तथा अयुग्म रात्रियों (5वीं 7वीं) में गर्भाधान से कन्या होती है अथवा वीर्य की अधिकता से पुत्र और रज की अधिकता से कन्या होती है। इन विचारों को सर्वथा वैज्ञानिक समर्थन समभवत: न दिया जा सके फिर भी गर्भाधान में वज्यविज्य तिथियों का

ध्यान रखते हुए अभिगमन करने से प्रजावृद्धि की समस्या का समाधान अवश्य हो सकता है।

गर्भाधान संस्कार का प्रचलन वैदिक काल में हुआ था। मिताक्षरा में याज्ञवल्क ने इस सन्दर्भ में उल्लेख करते हुए लिखा है कि - गर्भाधानं च विवाहदनन्तरं प्रथमोपगमे विष्णुर्योनि कल्पयत्विति मन्त्रवत् केषांचिद्धिहितम् परेषां गर्भग्रहणात् प्रत्युतु।[5] अर्थात् यह संस्कार पाणिग्रहीती स्त्री के साथ पहले पहल (जीवन में केवल एक बार) किया जाता है। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये सहवास की परम्परा थी, एक सन्तान हो जाने के बाद लोग प्राय: सुतरपराङ्.मुख हो जाते थे इसीलिए गर्भाधान संस्कार के एक बार सम्पाद्य होने की बात कही गयी है। पत्नी के लिए उपनिषदों में जाया शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ यह है कि पिता ही पुत्र के रूप में पत्नी द्वारा प्रकट होता है। यदि पुरुष अपनी पत्नी द्वारा पैदा हो गया तो वह माता के समान हुयी फलत: उसके साथ शारीरिक सम्पर्क नहीं किया जा सकता। इसीलिए केवल एक बार (पहली बार) गर्भाधान संस्कार का विधान युक्तिसंगत है।

2. पुंसवन संस्कार

षोडश संस्कारों में पुंसवन का दूसरा स्थान है। इसके विषय में आश्वलायन गृहसूत्र में कहा गया है कि पुंसवनमिति कर्मनामधेयं येन कर्मणा निमित्तेन गर्भिणी पुंसामेव सूते तत्पुंसवनम्। अर्थात् वह कर्म पुंसवन माना जाता है जिसके करने से गर्भिणी पुरुष सन्तान को ही उत्पन्न करे। याज्ञवल्क इसे पुत्र के लिये किया गया 'यज्ञ-पुंस: सेवनम्''[6] कहते हैं। लेकिन यह तथ्य सर्वमान्य नहीं है क्योंकि पुत्र या पुत्री का जन्म लेना स्त्री पुरूष में X और Y क्रोमोसोम की प्रधानता या अप्रधानता द्वारा निर्धारित होता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पुंसवन शब्द का अर्थ हो सकता है- पौरुष युक्त, सामथ्र्यसम्पन्न सन्तान। अत: यहाँ पर पुंसवन का यही अर्थ निगमित होता है कि जो भी सन्तान हो वह हृष्ट-पुष्ट बलिष्ठ हो, वह चाहे पुत्र हो या पुत्री। पुंसवन संस्कार के दो प्रमुख कृत्य होते हैं पहला लक्ष्मणा, वटशुङ्.गा (वट के नवीन अंकुर) सहदेवा (पीतबला) विश्वदेवा (श्वेतबला) इनमें से किसी एक को गाय के दूध के साथ कुचलकर उसकी तीन चार बूँदें गर्भिणी के दक्षिण नासापुट में डालना तथा दूसरा यह है कि पति द्वारा पत्नी का हृदय स्पर्श। इस प्रकार पुंसवन संस्कार गर्भ के

समुचित शारीरिक विकास की ओर माता-पिता का ध्यान आकृष्ट करने के लिए किया जाता है। इसमें निहित मूल धारणा यह है कि यदि गर्भिणी का कोई अंग रूग्ण है तो गर्भस्थ शिशु का भी वह अंग प्रभावित होगा। अत: गर्भिणी को पर्याप्त सावधानी रखने के लिए सचेत किया जाता है।

3. सीमन्तोन्नयन संस्कार

सीमन्तोन्नयन संस्कार के विषय में वीरमित्रोदय में कहा गया है कि जिस संस्कार में गर्भिणी के सीमन्त (केश) ऊपर उठाये जाय वह सीमन्तोन्नयन संस्कार कहलाता है। गृहसूत्रों में यह धारणा व्यक्त की गयी है कि गर्भकाल में गर्भभक्षण के लिए कुछ अनिष्टकारी शक्तियाँ सक्रिय हो जाती है उनसे रक्षा हेतु श्री का आवाहन करना चाहिए। अत: सीमन्तोन्नयन वह संस्कार है जिसमें माता-पिता का ध्यान गर्भस्थ शिशु के मानसिक विकास पर केन्द्रित हो। यही सूचित करने के लिए प्रतीक रूप में पति-पत्नी के केशों में सुगंधित तेल डालता है और उसे संवारता है। इसका समय चौथा महीना माना गया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सीमन्तोन्नयन संस्कार माता को प्रसन्नचित रखने के लिये किया जाता है क्योंकि उसकी सन्तुष्टि, असन्तुष्टि, तृप्ति-अतृप्ति आदि स्थितियों का गर्भस्थ सन्तान पर पूरा प्रभाव पड़ता है। दोहद (गर्भकालिक इच्छाओं) की पूर्ति न हो पाने से गर्भ सदोष हो जाता है। पत्नी के संवारने के द्वारा पति मानों उसके सुख सौमनस्य का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सम्भाल लेता है।

4. जातकर्म संस्कार

उल्लेखनीय है कि सन्तानोत्पत्ति के अनन्तर जो कर्म किये जाते हैं उन्हें जात कर्म कहा जाता है। इनके साथ-साथ बच्चे पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने का प्रयास किया जाता है। इसलिए इसे संस्कार की श्रेणी में रखा गया है। शिशु का जन्म काल ही इस संस्कार का समय है। यह संस्कार नाभिच्छेदन के पूर्व किया जाता है। सन्तान के जन्म के समय किये जाने वाले ये प्रमुख कर्म है। गर्भावरण जटायु (उल्ब) को हटाकर बच्चे के मुख, नासिका आदि की सफाई सिर पर घी का काया (पिचु) रखना तथा नाभिछेदन इसमें सम्मिलित है। इसके बाद सुवर्णशलाका से घी तथा मधु चटाया जाता है।

5. नामकरण संस्कार

वास्तव में किसी वस्तु का ज्ञान नाम के बिना नहीं होता है। संसार का सारा व्यवहार नाम के आधार पर ही चलता है। इस प्रकार नामकरण आवश्यक ही नहीं अपितु एक अपरिहार्य प्रक्रिया है। इसे संस्कार का रूप देने का कारण यह है कि जिन-जिन आकांक्षाओं और उमंगों को लेकर दम्पति अपनी सन्तान को उच्च बनाने के लिए अब तक प्रयत्नशील रहे सपने संजोये रहे उनके अनुरूप बालक को एक ऐसा नाम दे जो कि उनकी भावनाओं का प्रतिनिधित्व बन सके, बच्चे को उसी नाम के अनुसार बनने की प्रेरणा देता रहे। आधुनिक मनोविज्ञान तथा आंकिक ज्योतिष की मान्यता है कि बार-बार उच्चारित शब्दों का मनुष्य के मन एवं शरीर पर गहरा प्रभाव पड़ता है। बच्चे के जन्म से दस दिन तक मानता सूतिकाग्रह में रहती है, इसके बाद बाहर निकलती है। इसलिए विद्वानों ने ग्यारहवें दिन नामकरण संस्कार करने को कहा है। इस प्रकार इस संस्कार द्वारा व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन यात्रा को एक दिशा दी जाती है।

6. निष्क्रमण संस्कार

संस्कारों की श्रृंखला में निष्क्रमण का महत्वपूर्ण स्थान है। निष्क्रमण शब्द का अर्थ होता है-बाहर निकलना। अर्थात् सूतिकागृह के बाहर निकलने पर भी बच्चा घर की सीमा में ही रखा जाता है, उसे प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में तत्काल नहीं लाया जाता क्योंकि नवजात शिशु में शीततापादि से समायोजन की क्षमता नहीं रहती, परन्तु बच्चे के समुचित विकास के लिए स्वच्छ प्राकृतिक वायु तथा सूर्य का प्रकाश परमावश्यक है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए बच्चे का निष्क्रमण संस्कार किया जाता है। पारस्कर गृहसूत्र में इस संस्कार का समय चौथा महीना कहा गया है। इस संस्कार में एक निश्चित माङ्गलिक तिथि में देवताओं का पूजन वन्दन करते हुए वैदिक मन्त्रों का पाठ किया जाता है तथा बच्चे को सूर्य का दर्शन कराया जाता है।

इस संस्कार के अनुष्ठान में जो मंत्र प्रयुक्त किये जाते हैं उनका निष्कर्ष 'त्वं जीव शरद: शतं वर्धमान:' में आ जाता है। अभिप्राय यह है कि माता-पिता तथा उपस्थित स्वजनों की हार्दिक कामना है कि सन्तान सौ वर्ष तक जीवित रहे और वर्धमान रहे अनवरत उन्नति करती रहे। इस शुभकामना का प्रयोजन यह है कि जब शिशु जीवन यात्रा में चल ही पड़ा है जो इसका जीवन इतना दीर्घ हो कि यह अपना लक्ष्य परमपुरुषार्थ मोक्ष पूरा कर सके, उसका जीवन लक्ष्य अधूरा न रह जाय।

7. अन्नप्राशन संस्कार

अन्नप्राशन संस्कार का अर्थ है-जीवन में पहली बार अन्न का अशन (भोजन)। इसका समय छठवाँ महीना माना गया है जबकि बच्चे के दाँत निकल चुके हो। जन्म के समय न तो बालक के पास अन्न चबाने के लिए दाँत होते हैं और न ही अन्न पचाने में समर्थ पाचनशक्ति। फलत: प्रकृति उसके जीवन धारण का प्रबन्ध माता के दूध के रूप में सहज ही सुलभ करा देती है, परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि बच्चा सारा जीवन माँ के दूध पर निर्वाह नहीं कर सकता। इसके दो कारण है-प्रथम यह कि केवल दूध के सेवन से शरीर में कड़ापन नहीं आ सकता, शरीर थुलथुला रह जाता है। दूध में सब प्रकार के पोषक तत्वों का समावेश होने पर भी अन्न का भोजन परमावश्यक है। यही शारीरिक दृढ़ता का साधन है। दूसरा कारण है कि माँ के दूध पिलाने का अर्थ है कि वह अपने शरीर के भीतर का कैलशियम बच्चे को दे रही है, दूसरे शब्दों में वह अपना रक्त निकाल रही है। इससे उसका शरीर क्षीण होता रहता है। प्रकृति ने माँ बच्चे दोनों के स्वास्थ्य की दृष्टि से (एक निश्चित अवधि के बाद) बच्चे में दाँतों की व्यवस्था कर दी है। दाँतों का निकलना इस तथ्य का प्रतीक है कि बच्चे की आँते अब अन्न पचाने में समर्थ हो रही है। अब वह अन्न का आहार ग्रहण कर सकता है। इससे सिद्ध होता है कि अन्नप्राशन तथा दाँत निकलने का घनिष्ठ सम्बन्ध है। निष्कर्ष यह है कि जब बच्चे में दाँत निकलने लगे तो धीरे-धीरे माँ अपना दूध पिलाना बन्द करने लगे तथा उसके भरण-पोषण हेतु अन्न आदि का ध्यान दे।

8. चूड़ाकर्म या मुण्डन संस्कार

चूड़ाकर्म संस्कार को समझने के लिए हमें सर्वप्रथम चूड़ा शब्द का अर्थ समझना होगा। संस्कृत में चूड़ा शब्द का अर्थ है शिखर या चोटी। इस दृष्टि से चूड़ाकर्म का अभिप्राय हुआ चूड़ा विषयक संस्कार। चूड़ाकरण, मुण्डन, केशवपन, क्षौर आदि इसके पर्याय है। इसमें शिखा को छोड़कर गर्भकाल से प्राप्त सारे केश मुड़वा दिये जाते है। मनुस्मृति में चूड़ाकर्म के समय की बात करते हुए आचार्य मनु ने कहा है-

चूड़ाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मव:।
प्रथमे शब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात्।।[7]

अर्थात् चूड़ाकर्म संस्कार का समय शिशु जन्म का पहला या तीसरा वर्ष होना चाहिए। उल्लेखनीय है कि गर्भावस्था में बाल गर्भावरण जटायु के मलिन जल में रहते है, इसलिए अस्थिसन्धियों के जुड़ जाने के बाद उन्हें हटा देना आवश्यक होता है। बालों के साफ हो जाने से सिर की खुजली, दाद आदि से रक्षा हो जाती है और नये पुष्ट बाल उगने में सहायता मिलती है। चरक संहिता में इसकी महत्ता बताते हुए कहा गया है-

पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचिरूपं विराजनम्।
केशश्मश्रुनरवादीनां कर्तनं सम्प्रसाधनम्।।[8]

अर्थात् मुण्डन कर्म द्वारा बालक में पुष्टि, वृष्यता, आयु, स्वच्छता एवं सौन्दर्य इत्यादि का वर्धन होता है।

9. कर्णवेध संस्कार

कर्णवेध का सामान्यत: अर्थ है कान को बींध देना या उसमें छेद कर देना। सुश्रुत ने इसके दो उद्देश्य बताये है-बालक की रक्षा तथा आभूषण पहनना। कर्णवेध से अन्नवृद्धि (आँत का उतरना) हार्निया रोग से रक्षा होने का उल्लेख हुआ है। यह संस्कार कब सम्पन्न किया जाय इस सम्बन्ध में विद्वानों के बीच मतैक्यता का अभाव पाया जाता है। गर्ग के अनुसार कर्णवेध उपयुक्त काल छठवा, सातवा, आठवाँ या बारहवा महीना है। बौधायन सातवें या आठवें मास का विकल्प देते हैं। सुश्रुत ने छठें या सातवें वर्ष को कर्णवेध के लिये श्रेयस्कर बताया है। इस प्रकार कर्णवेध का समय जन्म के 10वें दिन से लेकर सात वर्षों तक माना जा सकता है। यह संस्कार सैद्धान्ति के साथ-साथ व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक भी है।

10. उपनयन संस्कार

उपनयन का अर्थ है गुरू के समीप ले जाना। गौतम और मनु जैसे शास्त्रकारों के अनुसार ब्राह्मण बालक का उपनयन आठवें वर्ष में क्षत्रिय बालक का ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य बालक का बारहवें वर्ष में होना चाहिए। शूद्रों के लिए यह संस्कार विहित नहीं है। वर्णव्यवस्था के अध्ययन से पता चलता है कि वैदिक काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा

शूद्र का निर्धारण जातिगत न होकर बुद्धिलब्धि के आधार पर (गुणात्मक दृष्टि से) था। इस संस्कार के मुख्य कृत्य है यज्ञोपवीत को धारण करना। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि उपनयन की तिथि से एक दिन पहले बालक को व्रत रहना पड़ता है। व्रत काल में ब्राह्मण को दूध पीने की क्षत्रिय बालक को जौ की दलिया खाने की तथा वैश्य पुत्र को श्रीखण्ड खाने की अनुमति दी गयी है। दुग्धसेवन सात्विक वृत्ति का सूचक है, जौ शक्ति का तथा श्रीखण्ड ऐश्वर्य का। व्रत के बाद वाले दिन प्रात:काल बालक अपनी माँ के साथ एक ही पात्र में भोजन करता था। अल्तेकर का मत है कि यह क्रिया इस तथ्य का प्रतीक थी कि उसका अनियमित बचपन बीत गया है और आगे उसे नियमित एवं अनुशासित जीवन बीताना है। प्रो0 राजबली पाण्डेय का कहना है कि यह माँ बेटे का विदाई भोज भी हो सकता है, जो पुत्र के प्रति माता के गहरे स्नेह को प्रकट करता है। तदन्तर बालक का मुण्डन और स्नान होता था तथा वह कौपीन वस्त्र धारण करता था। कमर के चारों ओर तीन लड़ियों वाली मेखला बाधी जाती थी जो यह संकेत देती थी कि बालक आगे तीन वेदों के अध्ययन से घिरने वाला है। तदुपरान्त गुरू द्वारा उसे उत्तरीय प्रदान किया जाता था। जिससे वह अपने शरीर का ऊध्वभाग ढँकता था। कालान्तर में उत्तरीय का स्थान यज्ञोपवीत (जनेऊ) ने ग्रहण कर लिया।

यज्ञोपवीत में तीन धागे होते थे जो क्रमश: ऋषि-ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण के सूचक है। यही कारण है कि जब व्यक्ति ऋणत्रय से मुक्त हो जाता है तब इसे वह विधि पूर्वक यज्ञीय अग्नि में भस्म कर देता है। आचार्य मनु ने किस वर्ण का यज्ञोपवीत किस चीज बना होता था इसके विषय में मनुस्मृति में लिखा है कि-

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योध्ववृतं त्रिवृत।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्।।[9]

अर्थात् ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास का, क्षत्रिय का सन का तथा वैश्य का ऊन का बना हुआ तीन लड़ी का होता था।

उपनयन के समय बालक का आचार्य से ब्रह्मचर्य धारण कराने का निवेदन करना, अन्तत (झूठ) त्यागकर सत्य पालन का पाँच बार व्रत ग्रहण

करना आचार्य द्वारा शिष्य को उन्नति के लिए संकल्प करना अपनी अन्जलि का जल बालक के अन्जलि में तीन बार छोड़ना इत्यादि सद्गुण युक्त क्रियाएँ करायी जाती थी। इस संस्कार के सम्पन्न हो जाने के पश्चात् बालक का दूसरा जन्म होता था इसी कारण उपनयन संस्कार होने के बाद व्यक्ति को द्विज कहा गया है। इस संस्कार का वर्तमान में भी प्रचलन होना इसकी महत्ता को दर्शाता है।

11. वेदारम्भ संस्कार

संस्कारों में वेदारम्भ संस्कार का महत्वपूर्ण स्थान है। वेदारम्भ का अर्थ है वेद के अध्ययन का प्रारम्भ। उपनयन के पश्चात् व्यक्ति वेदाध्ययन के लिए अर्ह हो जाता है। चूँकि प्राचीन काल में वेद का अध्ययन किया जाता था, इसलिये शिक्षा सम्बन्धी इस संस्कार को वेदारम्भ संस्कार कहा गया।

उपनयन संस्कार सम्पन्न हो जाने पर बालक को गुरूकुल में प्रवेश कराया जाता था, जहाँ उसे अन्तेवासी की संज्ञा मिलती थी। 'अन्तेवासी' शब्द के रहस्य को स्पष्ट करते हुये अथर्ववेद में कहा गया है कि बालक को शिक्षित करने के लिये स्वीकार करते हुये गुरू उसे इस प्रकार सुरक्षित तथा संभालकर रखता है जैसे माँ उसे अपने गर्भ में रखती है। स्पष्ट है कि गुरू-शिष्य सम्बन्धों का इससे अच्छा चित्र नहीं खींचा जा सकता। बालक अन्तेवासी हो गया तो मानों गुरू के हृदय का टुकड़ा हो गया, यह तथ्य स्वत: परिलक्षित है। बालक को गुरू द्वारा बताये गये मार्ग पर चलते हुए कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता था।

12. समावर्तन संस्कार

समावर्तन संस्कार मनुष्य के एक विशेष नये पड़ाव को इंगित करता है। समावर्तन का अर्थ है-शिक्षा ग्रहण के बाद घर वापस लौटना। एक वेद के अध्ययन में प्राय: बारह वर्ष लगता था। ब्रह्मचारी अपनी योग्यता एवं सामथ्र्य के अनुसार एक या दो या सभी वेदों का अध्ययन करता था। कुछ लोग आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। फलत: समावर्तन का एक निश्चित समय निर्धारित नहीं किया जा सकता।

सामान्यत: समावर्तन का समय 24वाँ वर्ष माना जा सकता है। समावर्तन के पश्चात् ब्रह्मचारी को स्नातक (स्नान किया हुआ विद्यार्जन कर चुका) कहा जाता था। आजकल विश्वविद्यालयों में प्रचलित दीक्षान्त समारोह समावर्तन संस्कार का एक रूप समझा जा सकता है। प्राचीनकाल में स्नातकों का बहुत सम्मान था। वरतन्तु के शिष्य कौत्स के पधारने पर राजा रघु आसन से उठकर खड़े हो गये थे तथा उनकी गुरूदक्षिणा की माँग पूरी करने के लिए हर तरह से तैयार हो गये थे।

13. विवाह संस्कार

विवाह शब्द का अर्थ है-कन्या (वधू) को (उसके पितृगृह से) विशेष रूप अथवा प्रयोजन विशेष (पत्नी बनाने) के लिए ले जाना। परिणय, उपयम, पाणिग्रहण इत्यादि इसके पर्याय हैं। समावर्तन संस्कार के समय ब्रह्मचारी को अपनी वंश परम्परा अक्षुण्य रखने का विशेष रूप से निर्देश होता था इसीलिए महाभाष्यकार पतंजलि ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि जो स्नातक विवाह नहीं करता वह निन्दा का पात्र है। मनु के विचार से विवाह का उद्देश्य सन्तानप्राप्ति, शास्त्रों में कहे गए धर्मों का पालन और यौन तुष्टि है। हिन्दू समाज में कोई भी धार्मिक कृत्य स्त्री के बिना पूरा नहीं होता, अकेले पुरुष अधूरा माना जाता है। अर्धनारीश्वर की कल्पना इसी तथ्य को पुष्ट करती है कि पति-पत्नी एक दूसरे के पूरक है। इस प्रकार पत्नी परमावश्यक है, और उसकी प्राप्ति विवाह से ही संभव है, क्योंकि बिना विवाह हुए किसी भी स्त्री-पुरूष युगल को पति-पत्नी के रूप में सामाजिक तथा वैधानिक मान्यता नहीं मिल सकती। इसीलिए विवाह को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी वर्णों के लिए आवश्यक माना गया है। हिन्दू धर्मशास्त्रों में विवाह के आठ प्रकारों का उल्लेख मिलता है-ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। इनमें से प्रथम चार समाज में सम्मानित थे और अन्तिम चार निन्दित माने गये थे।

14. वानप्रस्थ संस्कार

संस्कारों में वानप्रस्थ संस्कार महत्वपूर्ण है। वानप्रस्थ शब्द का अर्थ है-वन के लिये प्रस्थान करने वाला। इस प्रकार वह संस्कार जिसमें मनुष्य

की मनोवृत्ति सांसारिक भोगों से ऊपर उठकर योग की ओर अग्रसर होती है। नगर के कोलाहल से दूर वन के प्राकृतिक क्षेत्र का सेवन निवृत्तिमूलक भावना का प्रतीक है। यह संस्कार गृहस्थ जीवन के बाद अर्थात् 50 वर्ष की अवस्था में सम्पन्न होता है। इसमें व्यक्ति समीपस्थ वन में कुटी बनाकर रहता है, प्रमुख रूप से आरण्य ग्रन्थों का अध्ययन करता है, और अपने समीप आये बालकों तथा गृहस्थों को अनुभवजन्य ज्ञान को बाँटता है।

15. संन्यास संस्कार

इस संस्कार के अर्थ को समझने के लिए सर्वप्रथम संन्यास शब्द का अर्थ समझना होगा। संन्यास का अर्थ है सम्यक् त्याग। यह त्याग अपने कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का त्याग नहीं है, जीवन से पलायन नहीं अपितु मोह माया के आवहरण का त्याग, राग, द्वेष जैसे द्वन्दों का परित्याग है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण संन्यासी के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है- ''ज्ञेय: स नित्यं संन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्.क्षति।''[10] अर्थात् संन्यासी वह है जो न किसी से स्नेह रखता है और न द्वेष। इस प्रकार संन्यास एक मनोवृत्ति है, जो उच्च चिन्तन का परिणाम है।

16. अन्त्येष्टि संस्कार

अन्त्येष्टि का अर्थ है मानव जीवन का अन्तिम कर्म। इस संस्कार का तात्पर्य उस संस्कार से है जिसके आगे उस शरीर के लिए कोई अन्य संस्कार शेष नहीं रहता। मत्स्यपुराण में अन्त्येष्टि संस्कार की तीन विधियों का उल्लेख किया गया है-(i) शव को जलाना (ii) शव को पृथ्वी के नीचे गाड़ना (iii) शव को फेंकना। इनमें से शवदाह की प्रक्रिया अधिक वैज्ञानिक है क्योंकि अग्नि में भस्म हो जाने पर प्रदूषण की संभावनाएँ कम रहती है जबकि भूमि के नीचे गाड़ने पर शरीर का सड़ना निश्चित है, खुला फेंक देने पर मांसभक्षी पशु पक्षियों के द्वारा अस्थि और माँस खण्डों का इधर-उधर बिखराया जाना स्वाभाविक है। इस प्रकार शव को जलाना ही श्रेष्ठ माना गया है। अन्त्येष्टि संस्कार से जुड़ी हुई कर्मकाण्ड की प्रक्रिया शोकाकुल परिवार को दु:ख भूलाने का एक अवसर मिलता है। अत: यह संस्कार मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से मानव समाज के लिए उपयोगी है।

इस प्रकार उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मानव व्यक्तित्व निर्माण में वैदिक संस्कार व विधान कुछ परिवर्तनों के साथ उतने ही प्रासंगिक है जितने पहले थे और भविष्य में भी इसकी प्रासंगिकता किसी न किसी रूप में बनी रहेगी।

सन्दर्भ सूची

1. चरकसंहिता, पृष्ठ 37
2. तन्त्रवार्तिक, पृष्ठ 9078
3. सुश्रुत, शा. स्था. 2.34
4. गरुड़पुराण, 15.16
5. मिताक्षरा, याज्ञ. 1.11
6. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.11
7. मनुस्मृति, 2.35
8. चरक संहिता, सूत्रस्थान, 5.93
9. मनुस्मृति, 2.44
10. गीता, 5.3

ICPR PDF Fellow
Ewing Christian College, Prayagraj

डिजिटल एडिक्शन: एक बौद्ध दृष्टिकोण

- सुमन बंसल

प्रस्तावना

भीड़भाड़ वाली मेट्रो में सैकड़ों लोग एक साथ खड़े हैं- परंतु सभी की निगाहें नीचे झुकी हुई हैं, हाथों में मोबाइल फोन, और चेहरे पर एक निर्जीव-सी चमक। घर के एक कोने में बैठा बच्चा स्क्रीन पर उंगलियाँ चला रहा है- न किसी से नज़रें मिलाना, न कोई संवाद। एक किशोर अपने कमरे में बंद है; बाहर सुहावना मौसम है, लेकिन वह वर्चुअल क्रिकेट के रोमांच में डूबा हुआ है। एक युवती मोबाइल स्क्रीन पर घंटों ऑनलाइन विंडो शॉपिंग में व्यस्त है, जहाँ स्क्रोल ही सुख का अनुभव देता है । दिनभर की थकान के बाद, एक युवा रातभर जागकर वेब सीरीज़ की सारी कड़ियाँ देख डालता है- शरीर, नींद और समय, सब कुछ दांव पर। एक बुज़ुर्ग अब किसी से बात नहीं करता- दिनभर व्हाट्सएप, फेसबुक और यूट्यूब के अनगिनत वीडियो ही उसके साथी हैं। वहीं, एक नन्हा बच्चा अब केवल तब खाना खाता है जब कोकोमेलन या इन्फोबेल्स जैसे वीडियो उसकी आँखों के सामने चल रहे हो। एक ही परिवार के सदस्य, एक ही छत के नीचे रहते हुए भी, अलग-अलग स्क्रीन की रोशनी में खोए हुए, एक-दूसरे से कटे हुए - यह आज की सामान्य सामाजिक स्थिति बन चुकी है।

यह कोई असामान्य दृश्य नहीं, बल्कि आधुनिक जीवन की एक सामान्य परंतु गहराई से परेशान करने वाली वास्तविकता है। यह स्थिति आज के डिजिटल समाज की एक छुपी हुई, परंतु बढ़ती हुई मानसिक समस्या की ओर संकेत करती है - डिजिटल एडिक्शन। इसका सीधा संबंध स्मार्टफोन, गेमिंग, सोशल मीडिया, ओटीटी प्लेटफ़ॉर्म, ऑनलाइन शॉपिंग या वीडियो कंटेंट जैसी आभासी गतिविधियों के प्रति अनियंत्रित आकर्षण से है, जो धीरे-धीरे हमारी सोचने,समझने, जुड़ने और जीवन जीने की स्वाभाविक क्षमता को कुंद कर रहा है। यह केवल एक व्यवहार

नहीं है; यह हमारे चेतना, संबंधों और जीवन के अर्थ से जुड़ी एक गहरी चुनौती है। यह वह अवस्था है जहाँ मनुष्य धीरे-धीरे भीतर के मौन, ध्यान और सजीव संवाद की जगह स्क्रीन, सूचना और क्षणिक सुखों को प्राथमिकता देने लगता है। संबंध आभासी हो गए हैं, संवाद डिजिटल, और सुख तात्कालिक। डिजिटल उपकरणों और सोशल मीडिया ने केवल हमारे समय, ध्यान और ऊर्जा पर ही अधिकार नहीं जमाया है, बल्कि हमारे स्वभाव, संबंध और चेतना की दिशा को भी बदल दिया है। यह एडिक्शन आज मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य, एकाग्रता, उत्पादकता, और पारिवारिक रिश्तों पर गहरा प्रभाव डाल रही है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भी इसे एक उभरता हुआ मानसिक विकार माना है। विशेषकर किशोरों और बच्चों में यह समस्या सामाजिक अलगाव, अवसाद, नींद की गड़बड़ी, चिड़चिड़ापन, क्रोध और आत्म-संयम की क्षीणता जैसी गंभीर स्थितियों को जन्म दे रही है।

ऐसे समय में, यह आवश्यक है कि इस समकालीन संकट को केवल तकनीकी या सामाजिक समस्या न मानकर, इसकी मानसिक और आध्यात्मिक जड़ों की ओर दृष्टि डाली जाए। बौद्ध दर्शन, जिसकी नींव मन की प्रकृति, तृष्णा, और सजगता पर आधारित है,इस एडिक्शन की गहराई को समझने और समाधान प्रस्तुत करने के लिए एक सशक्त मार्गदर्शक बन सकता है। यह शोध-पत्र इसी दिशा में एक प्रयास है- कि हम डिजिटल एडिक्शन को बौद्ध दृष्टिकोण से समझें, और यह जानने का प्रयास करें कि कैसे तृष्णा, तात्कालिक सुख की चाह, और अविद्या हमें स्क्रीन की कैद में बाँधते हैं, और कैसे पंचशील जैसे बौद्ध सिद्धांत हमें उस कैद से मुक्ति की ओर ले जा सकते हैं।

डिजिटल एडिक्शन: एक तकनीकी और व्यवहारिक दृष्टिकोण से

डिजिटल एडिक्शन एक प्रकार की व्यवहारिक एडिक्शन है, जो डिजिटल उपकरणों- जैसे कि स्मार्टफोन, कंप्यूटर और इंटरनेट- के अत्यधिक, विवश और अनियंत्रित उपयोग से जुड़ी होती है। यह उपयोग इस हद तक बढ़ जाता है कि यह व्यक्ति के दैनिक जीवन, जिम्मेदारियों और मानसिक स्वास्थ्य में हस्तक्षेप करने लगता है। डिजिटल मीडिया (जैसे गेम्स, सोशल मीडिया आदि) का बार-बार और लगातार उपयोग धीरे-धीरे एक एडिक्शन में बदल सकता है (क्रिस्टाकिस, 2019; विश्व स्वास्थ्य संगठन, 2015)। हाल के वर्षों में, डिजिटल और इंटरनेट-युक्त उपकरणों के अत्यधिक उपयोग को लेकर समाज में चिंता तेज़ी से बढ़ी है (अलमोराड, 2020)। जब कोई इच्छा या व्यवहार इस कदर हावी हो जाए कि वह

व्यक्ति के काम, पढ़ाई, रिश्तों और दिनचर्या पर नकरात्मक प्रभाव पड़ने लगे और व्यक्ति खुद उस पर नियंत्रण न रख सके- तो उसे हम 'एडिक्शन' कहते हैं (एडिक्शन सेंटर)। डिजिटल एडिक्शन की मुख्य पहचान यह है कि व्यक्ति इंटरनेट या किसी डिजिटल माध्यम के उपयोग की इच्छा को रोक नहीं पाता, और बार-बार, बेमतलब, अत्यधिक उपयोग करता रहता है। यह आदत धीरे-धीरे मानसिक स्वास्थ्य, रिश्तों और समग्र जीवन की गुणवत्ता को प्रभावित करती है। यह एक व्यापक शब्द है, जो इंटरनेट, गेमिंग, सोशल मीडिया और अन्य डिजिटल माध्यमों की एडिक्शन के संदर्भ में प्रयोग होती है (क्रिस्टाकिस, 2019)।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (2018) ने "गेमिंग डिसऑर्डर" को एक व्यवहारिक समस्या के रूप में परिभाषित किया है, जिसमें व्यक्ति अत्यधिक समय गेम खेलने पर व्यतीत करता है, अन्य ज़रूरी कार्यों की तुलना में गेम को अधिक प्राथमिकता देता है, और नकारात्मक परिणाम होने के बावजूद उसे जारी रखता है। अमेरिकी मनोरोग संघ (APA) ने "इंटरनेट गेमिंग डिसऑर्डर" को अपने Diagnostic and Statistical Manual of Mental Disorders (DSM-5) में और अधिक अध्ययन हेतु शामिल किया है, जिसमें यह कहा गया है कि लगातार और बार-बार इंटरनेट के माध्यम से गेम खेलने की प्रवृत्ति व्यक्ति के मानसिक, सामाजिक या शैक्षणिक जीवन में गंभीर बाधाएं उत्पन्न करती है (अमेरिकन साइकिएट्रिक एसोसिएशन, 2013)। इसी प्रकार, यंग (1998) ने "इंटरनेट एडिक्शन डिसऑर्डर" शब्द को प्रस्तुत करते हुए इसे ऐसा बाध्यकारी व्यवहार बताया, जो व्यक्ति के सामान्य जीवन को प्रभावित करता है, और इसके निदान के लिए एक प्रश्नावली भी विकसित की, जो जुए की एडिक्शन के मापदंडों पर आधारित थी।

अब तक के शोध बताते हैं कि डिजिटल एडिक्शन स्वास्थ्य, शिक्षा, कार्यक्षमता, और सामाजिक जीवन पर गंभीर प्रभाव डालती है, और यह व्यक्ति, परिवार और समाज में गहरी मानसिक बेचैनी और असंतुलन का कारण बनती है (बेल, बिशप एंड प्रज़ीबिल्स्की, 2015; डाहल, 2020; विश्व स्वास्थ्य संगठन, 2015)। कोविड-19 महामारी के दौरान डिजिटल उपकरणों के उपयोग में अप्रत्याशित वृद्धि हुई, जिससे पहले से मौजूद मानसिक कमजोरियाँ और भी गहरी हो गई (किराली, 2020)। कुस और ग्रिफिथ्स ने सोशल नेटवर्किंग साइट्स (SNS) की एडिक्शन पर विस्तृत अध्ययन कर यह पाया कि इसमें भी वही लक्षण होते हैं जो नशीले-पदार्थों की लतों में होते हैं- जैसे मूड में बदलाव, सहनशीलता की कमी, अन्यमनस्कता (withdrawal), पुनः नशे की स्थिति में आ जाना(relapse)। ट्वेंग (2018) ने

अमेरिका के किशोरों में स्क्रीन टाइम बढ़ने को अवसाद और आत्महत्या की दरों में वृद्धि से जोड़ा। मॉन्टैग (2016) ने इंटरनेट एडिक्शन को एक वैश्विक स्वास्थ्य चुनौती बताया और इसके न्यूरो बायोलॉजिकल आधारों पर चर्चा करते हुए डोपामिनर्जिक सिस्टम की भूमिका को रेखांकित किया, जो हमारे मस्तिष्क में इच्छाओं और लालसाओं को नियंत्रित करता है।

डिजिटल एडिक्शन के प्रकार

डिजिटल एडिक्शन के कई प्रकार हैं, जिनमें से कुछ आज के समय में बहुत आम और व्यापक रूप से देखे जाते हैं । नीचे डिजिटल एडिक्शन के कुछ प्रमुख और प्रचलित प्रकारों का उल्लेख किया गया है:

1. इंटरनेट एडिक्शन: बिना किसी स्पष्ट उद्देश्य के इंटरनेट पर घंटों ब्राउज़ करना, सर्फिंग करना, या केवल ऑनलाइन रहने की आदत। यह आदत धीरे-धीरे अन्य ज़रूरी कामों को पीछे छोड़ देती है (चाउ, 2005) ।

2. सोशल मीडिया एडिक्शन: बार-बार फेसबुक, इंस्टाग्राम, व्हाट्सएप्प और स्नैपचैट जैसे ऐप्स को चेक करने की आदत- तब भी जब कोई नोटिफिकेशन न हो। यह आदत व्यक्ति को वास्तविक सामाजिक जीवन से काट देती है (आंद्रेआसेन, 2012) ।

3. डूमस्क्रॉलिंग: नकारात्मक खबरें, तनावपूर्ण अपडेट या दुखद सूचनाएं बार-बार पढ़ने की आदत। यह आदत कोविड-19 महामारी के दौरान विशेष रूप से देखने को मिली और मानसिक तनाव का बड़ा कारण बनी (शर्मा, 2022) ।

4. स्मार्टफोन एडिक्शन: मोबाइल फोन का बार-बार और अनियंत्रित रूप से उपयोग करना, जिसमें मैसेजिंग, ऐप्स और सोशल मीडिया शामिल होते हैं। इससे जुड़ी एक स्थिति है "नोमोफोबिया" (Nomophobia)- यानि फोन न होने पर बेचैनी और घबराहट महसूस होना। इसमें शामिल हैं:

- "रिंग्जायटी" (ringxiety) – बिना कॉल आए भी कॉल की आवाज़ सुनाई देना।
- बार-बार फोन चेक करना, भले ही कोई मैसेज या कॉल न हो।
- बिना ज़रूरत मोबाइल का प्रयोग करना। (कुस & ग्रिफिथ्स, 2017; बिलियू, 2015)

5. गेमिंग एडिक्शन: ऑनलाइन या ऑफलाइन वीडियो गेम्स का बार-बार और लंबे समय तक उपयोग। यह आदत "इंटरनेट गेमिंग डिसऑर्डर" जैसी मानसिक स्थितियों से भी जुड़ी हो सकती है।

6. स्ट्रीमिंग एडिक्शन: वेब सीरीज़ या फिल्में लगातार घंटो तक देखना, जिससे व्यक्ति अपने सामाजित या शारीरिक कार्यों को नज़र अंदाज करता है (सिंह, 2021)

7. ऑनलाइन शॉपिंग एडिक्शन: ई -कॉमर्स ऐप्स पर बार-बार खरीददारी करना, चाहे ज़रूरत हो या नहीं। यह अनियंत्रित खर्च और आर्थिक तनाव का कारण बन सकती है (रोज़, 2014)।

8. ऑनलाइन जुए का एडिक्शन: ऑनलाइन प्लेटफ़ॉर्म्स पर बार-बार जुआ खेलना, जिससे आर्थिक नुकसान और मानसिक बेचैनी उत्पन्न होती है (ग्रिफिथ्य, 2007)।

9. पोर्नोग्राफ़ी एडिक्शन: पॉर्नोग्राफ़िक कंटेंट बार-बार देखने से, व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य, रिश्तों पर सामाजिक जीवन पर गहरा असर पड़ता है (लव, 2015)।

10. FOMO – फोमो (Fear of Missing Out): सोशल मीडिया या डिजिटल ट्रेंड्स से बाहर होने का डर, जिससे व्यक्ति बार-बार हर नई पोस्ट, विडयो या ट्रेंड को देखने की होड़ में रहता है। यह चिंता और आत्म-संदेह को बढ़ा सकता है (टंडन, 2021)।

ध्यान देने वाली बात यह है कि ये सभी प्रकार अक्सर एक दूसरे के साथ ओवरलैप करते हैं – यानि एक से अधिक डिजिटल लतों का शिकार हो सकता है। ये लतें धीरे-धीरे हमारी दिनचर्या, सोचने का तरीका और जीवन के प्रति दृष्टिकोण को प्रभावित करती हैं। इसिलए इसे समय रहते समझना और नियंत्रित करना आवश्यक है।

आंकड़े और तथ्य: डिजिटल एडिक्शन की गहराई को समझना

भारत में डिजिटल उपकरणों और इंटरनेट के उपयोग में जो तीव्र वृद्धि देखी गई है, वह केवल तकनीकी विकास का संकेत नहीं, बल्कि एक सामाजिक और मानसिक परिवर्तन का प्रतिबिंब भी है।

स्मार्टफोन यूज़र्स की बेतहाशा बढ़ोतरी: स्टैटिस्टा की रिपोर्ट के अनुसार, वर्ष 2024 में भारत में स्मार्टफोन यूज़र्स की संख्या 700.58 मिलियन तक पहुंच गई - जो चीन के बाद दूसरे स्थान पर है (स्टैटिस्टा रिसर्च डिपार्टमेंट, 2025) । इसी वर्ष भारत ने 1.2 करोड़ एप्पल स्मार्टफोन आयात किए, और अमेरिका, चीन व जापान के बाद एप्पल का चौथा सबसे बड़ा बाज़ार बन गया, जिसकी सालाना वृद्धि दर 35% रही (इंटरनेशनल डेटा कॉर्पोरेशन, 2025) ।

इंटरनेट कनेक्शन की तेज़ रफ्तार से बढ़ोतरी: 2025 की शुरुआत में भारत में इंटरनेट उपयोगकर्ताओं की संख्या 806 मिलियन तक पहुँच गई, जो देश की कुल जनसंख्या के 55.3% हिस्से तक इंटरनेट की पहुँच को दर्शाता है (साइमन, 2025)।संचार मंत्रालय के अनुसार, मार्च 2014 में जहां इंटरनेट कनेक्शन की संख्या 251.5 मिलियन थी, वह जून 2024 तक 969.6 मिलियन तक पहुँच गई- 285% से अधिक की वृद्धि (मिनिस्ट्री ऑफ कम्युनिकेशंस, 2025)। ब्रॉडबैंड कनेक्शन में 1,452% की चौंकाने वाली वृद्धि हुई, जो 2014 में 61 मिलियन से बढ़कर अगस्त 2024 में 949.2 मिलियन हो गए। भारत के 6,44,131 गांवों में से 6,15,836 गांवों में 4G मोबाइल कनेक्टिविटी उपलब्ध है (मिनिस्ट्री ऑफ कम्युनिकेशंस, 2025)।

डेटा खपत की बढ़ती प्रवृत्ति: 2015 में एक व्यक्ति की औसत मासिक डेटा खपत जहां 1 GB से भी कम थी, वहीं 2022 तक यह बढ़कर 20 GB गई सात वर्षों में 20 गुना वृद्धि (सन, 2023)। मार्च 2014 में औसतन एक यूज़र प्रति माह 61.66 MB डेटा उपयोग करता था, जो जून 2024 में बढ़कर 21.30 GB हो गया- 353 गुना वृद्धि (मिनिस्ट्री ऑफ कम्युनिकेशंस, 2025) ।

स्क्रीन टाइम का बढ़ना और सस्ते इंटरनेट का योगदान: रेडसीर की एक रिपोर्ट बताती है कि एक औसत भारतीय दिन के लगभग 7.3 घंटे मोबाइल स्क्रीन पर बिताता है (मनी कंट्रोल, 2022)। इस बढ़ते स्क्रीन टाइम के पीछे मुख्य कारण इंटरनेट की आसान, तेज़ और बेहद सस्ती उपलब्धता है। भारत में मोबाइल डेटा दुनिया में सबसे सस्ता है- 2014 में जहाँ प्रति GB डेटा की कीमत ₹268.97 थी, वहीं 2024 में यह घटकर ₹8.31 रह गई- लगभग 97% की गिरावट (मिनिस्ट्री ऑफ कम्युनिकेशंस, 2025)। मोबाइल ब्रॉडबैंड की स्पीड भी बढ़कर मार्च 2014 में 1.30 Mbps से दिसंबर 2024 में 95.67 Mbps हो गई।

स्क्रीन का उपयोग किन चीज़ों के लिए हो रहा है? IAMAI की रिपोर्ट के अनुसार, 85% स्क्रीन टाइम मनोरंजन के लिए, 77% संचार के लिए और 70% सोशल मीडिया के लिए इस्तेमाल होता है (IAMAI, 2023)। जनवरी 2025 तक भारत में 491 मिलियन सक्रिय सोशल मीडिया यूज़र्स थे- फेसबुक पर 384 मिलियन, यूट्यूब पर 491 मिलियन, इंस्टाग्राम पर 414 मिलियन, स्नैपचैट पर 208 मिलियन, और लिंक्डइन पर 150 मिलियन (साइमन, 2025)। भारत, विश्व में फेसबुक यूज़र्स की संख्या में पहले स्थान पर रहा (बसुरॉय, 2023)। कोविड के समय में स्क्रीन टाइम में भारी उछाल देखने को मिला- ओटीटी यूज़र्स की संख्या 668 मिलियन और ऑनलाइन गेमिंग यूज़र्स की संख्या 350 मिलियन हो गई (ICUBE2022, 2023)।

डिजिटल एडिक्शन के बढ़ते मामले: फोर्ब्स की रिपोर्ट के अनुसार, विश्व स्तर पर करीब 210 मिलियन लोग सोशल मीडिया एडिक्शन से जूझ रहे हैं (मार, 2023)। REVIEWS.org ने बताया कि एक औसत अमेरिकी दिनभर में लगभग 144 बार अपना फोन चेक करता है, यानी हर 10 मिनट में एक बार। 89% लोग सुबह उठने के 10 मिनट के अंदर फोन देखते हैं, और 82% मानते हैं कि अगर घर में आग लग जाए, तो सबसे पहले वे अपना फोन लेकर भागेंगे (केराई, 2023)। वैश्विक स्तर पर देखा जाए तो, जागने के समय का 44% हिस्सा लोग स्क्रीन को देखते हुए बिताते हैं। भारत में, 9 से 17 वर्ष की उम्र के शहरी बच्चों में से 40% से अधिक इंटरनेट आधारित गतिविधियों के प्रति आसक्त हैं (चौधरी, 2022)। पीटीआई के अनुसार, 5 से 16 वर्ष के लगभग 60% बच्चे डिजिटल एडिक्शन के संकेत दर्शाते हैं (पीटीआई, 2024)।

उपरोक्त आंकड़े यह साफ़ दर्शाते हैं कि भारत में स्मार्टफोन, इंटरनेट कनेक्शन और डेटा खपत तेजी से बढ़ रही है। जैसे-जैसे लोग अपनी स्क्रीन पर अधिक समय बिताने लगे हैं, वे अपने आसपास के लोगों और परिवेश से कटते जा रहे हैं। सोशल मीडिया और इंटरनेट लोगों को जोड़ने के लिए बनाया गया था, लेकिन सच यह है कि मानव इतिहास में कभी भी व्यक्ति इतना अकेला और आत्मकेंद्रित नहीं रहा। एक बार जब कोई व्यक्ति मोबाइल और इंटरनेट की दुनिया में डूबता है- खेल, चैटिंग, स्क्रॉलिंग, शॉपिंग, शॉर्ट रील्स देखना आदि- तो वह अपने वास्तविक परिवेश से कट जाता है। परिवार, पड़ोस, समाज और प्रकृति से यह दूरी धीरे-धीरे मानसिक, सामाजिक और शारीरिक समस्याओं की जड़ बनती है। चाहे इंटरनेट

और डिजिटल दुनिया के लाभ कितने भी हों, उनकी खपत की यह दौड़ कभी खत्म नहीं होती। थोड़ी संतुष्टि के लिए ज्यादा खपत चाहिए, और यह सिलसिला अंतहीन हो जाता है- एक ऐसा चक्र जिसमें अंत नहीं होता, बस एक अनंत चक्र की तरह चलता रहता है Top of Form

डिजिटल एडिक्शन को अक्सर केवल एक तकनीकी या व्यवहारगत विकार के रूप में देखा जाता है, लेकिन इसका मूल इससे कहीं गहरा और जटिल है। यह मन की एक गह उलझन है - जो आसक्ति, अस्थिरता, तृष्णा और अज्ञान से उत्पन्न होती है। बौद्ध दर्शन मन को समझने का एक सूक्ष्म और गहन विज्ञान है, जो मन की इन ग्रंथियों से मुक्ति का मार्ग दिखाता है। डिजिटल एडिक्शन, इस दृष्टिकोण से, केवल एक आदत न हीं बल्कि आधुनिक युग के दुःख का नया रूप है।

इस दुःख की समाप्ति केवल बाहरी हस्तक्षेप से नहीं, बल्कि भीतर की यात्रा से संभव है। धम्म की अंतर्दृष्टियाँ मन पर अधिकार पाने और आसक्ति से मुक्ति की दिशा में एक आत्म परीक्षणात्मक मार्ग प्रदान करती हैं।

मन की प्रकृति और डिजिटल युग में तृष्णा: एक कभी न बुझने वाली प्यास

बौद्ध दर्शन में तृष्णा- अर्थात् असीम लालसा- को समस्त दुःखों की जड़ और बंधनों का कारण बताया गया है (धम्मपद 334–359, इतिवुत्तक 58) (उपाध्याय, 2014)। धम्मचक्कप्पवत्तन सुत्त में बुद्ध कहते हैं कि यह तृष्णा ही है जो पुनर्जन्म के चक्र को जन्म देती है।

यदि हम डिजिटल एडिक्शन को इसी संदर्भ में देखें, तो यह केवल तकनीक या व्यवहार की निर्भरता नहीं, बल्कि एक मानसिक विकृति है, जो हमारे भीतर लंबे समय से चली आ रही तृष्णा की आधुनिक अभिव्यक्ति है। यह मन की उस अंतहीन चाह की उपज है- थोड़ा और आनंद, थोड़े और लाइक्स, थोड़े और फॉलोवर्स, थोड़े और रील्स, एक और एपिसोड- जो हमें सतत उपभोग और स्क्रीन के चक्कर में बांधे रखती है।

आ की डिजिटल तृष्णा कई रूपों में प्रकट होती है: बार-बार नोटिफिकेशन चेक करना, लगातार वीडियो देखना, अंतहीन स्क्रॉलिंग, सोशल मीडिया पर अपनी छवि बनाए रखना- इन सबके पीछे छुपा होता है एक गहरा मनोवैज्ञानिक ढाँचा: असंतोष और एक अंतहीन बेचैनी।

बुद्ध ने तृष्णा को तीन प्रमुख प्रकारों में बांटा: काम, भव और विभव तृष्णा (विज़डम लाइब्रेरी, 2018) (विलियम्स, ट्राइब, और विन, 2012) । ये तीन प्रकार डिजिटल एडिक्शन के संदर्भ में तृष्णा की गहराई को बेहतर ढंग से समझने में मदद करते हैं।

1. काम तृष्णा (इंद्रिय सुखों की लालसा)

यह है दृश्य, ध्वनि, अनुभव आदि के माध्यम से इंद्रियों को सुख देने की प्यास। वीडियो देखना, ऑनलाइन शॉपिंग करना, इंस्टाग्राम रील्स या शॉर्ट्स स्क्रॉल करना- ये सभी काम तृष्णा की अभिव्यक्तियाँ हैं। इंटरनेट और मोबाइल जैसे डिजिटल माध्यम इस तृष्णा को त्वरित और अत्यधिक सुलभ बना देते हैं, जिससे यह और गहराई तक उतर जाती है।

2. भव तृष्णा (कुछ बनने या मौजूद रहने की लालसा)

यह उस अभिलाषा से जुड़ी है जिसमें व्यक्ति एक विशेष डिजिटल पहचान, प्रतिष्ठा या छवि बनाए रखने की चाह रखता है। सोशल मीडिया पर लाइक्स, फॉलोअर्स, और शेयर की दौड़, अपने वर्चुअल 'स्व' की रचना - ये सभी भव तृष्णा का संकेत हैं। यह स्वयं की मौजूदगी को बाहरी स्वीकृति के ज़रिये प्रमाणित करने की गहरी मनोवृत्ति को दर्शाता है।

3. विभव तृष्णा (न होने या पलायन की लालसा)

यह सबसे सूक्ष्म और भ्रमजनक तृष्णा है। इसमें व्यक्ति दुःख, अकेलेपन या अस्तित्व की चिंता से बचने के लिए आभासी दुनिया की ओर भागता है। मोबाइल स्क्रीन एक आश्रय बन जाती है- एक ऐसा स्थान जो भीतर की बेचैनी से कुछ समय के लिए छुटकारा देती है। लेकिन यह राहत वास्तविक नहीं होती, बल्कि धीरे-धीरे और गहरी निर्भरता को जन्म देती है, और मन को वर्तमान क्षण और वास्तविकता से काट देती है।

इस प्रकार, डिजिटल एडिक्शन केवल आदत या तकनीकी अतिरेक नहीं, बल्कि एक मानसिक संरचना है जो हमेशा 'कुछ और' की तलाश में रहती है- या तो आनंद पाने, पहचान बनाने, या दर्द से भागने के लिए।

बौद्ध दर्शन के अनुसार, इस चक्र को तोड़ने का एकमात्र मार्ग है- सही ज्ञान प्राप्त करना, वास्तविकताओं को देखना, तृष्णा का क्षय करना और इस मानसिकबंधन से

मुक्ति पाना। यही मार्ग धम्म का सार है- जहाँ मन की ग्रंथियों को खोलकर व्यक्ति सच्चे अर्थों में स्वतंत्र होता है।

डिजिटल युग में बौद्ध दृष्टिकोण की प्रासंगिकता

तकनीक का सही उपयोग

बौद्ध धर्म स्वभावतः तकनीक का विरोध नहीं करता, लेकिन जब तकनीक का उप योग तृष्णा, उपादान और अविद्या के अधीन होकर होता है, तब वह चेतावनी देता है। बौद्ध दर्शन में ध्यान केवल त्याग पर नहीं, बल्कि विवेकपूर्ण उपयोग पर आधारित है। ऐसा उपयोग जो सम्यक दृष्टि (डिजिटल उपभोग को सुख नहीं, बल्कि तृष्णा की दृष्टि से दुःख मानना); सम्यक संकल्प (डिजिटल तृष्णा से दूर रहने का सही मानसिक निर्णय); सम्यक प्रयास (डिजिटल व्यवहार को नैतिक बनाना); और करुणा जैसे सिद्धांतों से संचालित हो। यदि तकनीक का उपयोग पंचशील की मर्यादाओं में रहकर किया जाए, तो यह न केवल ज्ञान का माध्यम बन सकती है, बल्कि आत्मविकास का भी सशक्त उपकरण बन सकती है– न कि केवल पलायन और एडिक्शन की ओर ले जाने वाला एक माध्यम।

डिजिटल युग की सबसे बड़ी मानसिक चुनौती है– निरंतर ध्यानभंग (distraction)। हर समय आने वाली सूचनाएं, ताज़ा अपडेट्स और जानकारियों की बाढ़, हमारे मन को बाह्य जगत की ओर खींच ले जाती हैं, जिससे वर्तमान क्षण में उपस्थित रहना कठिन हो जाता है। ऐसे में सम्यक स्मृति- डिजिटल आत्म–रूप की सच्चाई को याद रखना; और सम्यक समाधि- डिजिटल दुनिया में गहन ध्यान, स्थिरता, तीव्र एकाग्रता, पूर्ण मानसिक स्पष्टता; का अभ्यास मन को एकाग्र करता है और इन बिखरावों से उबारता है। जब ध्यान साधना से मन स्थिर होता है, तो वह धीरे-धीरे डिजिटल व्यसनों से मुक्त होने लगता है। इसलिए तकनीक का सही उपयोग केवल एक व्यवहारिक सलाह नहीं, बल्कि डिजिटल मुक्ति की दिशा में एक गाइडिंग लाइट है।

पंचशील और डिजिटल नैतिकता

बौद्ध धर्म के पंचशील- प्राणी हत्या से विरति, चोरी न करना, कामेच्छा में असंयम से बचना, असत्य भाषण से बचना, मादक पदार्थों का सेवन न करना (बौध, 2018) (जैन डॉ., 1983)। डिजिटल युग में एक प्रभावशाली नैतिक ढांचा प्रस्तुत करते हैं, जो इंटरनेट और सोशल मीडिया के माध्यम से जीवन को संतुलित और करुणामय बना सकते हैं।

1) पहला शील – किसी की हत्या न करना। आज के समय में सिर्फ शारीरिक रूप से किसी को नुकसान पहुंचाना ही नहीं है। डिजिटल स्पेस में भी यह सिद्धांत उतना ही जरूरी है। सोशल मीडिया, कमेंट्स, और चैट ग्रुप्स में हिंसा भरी भाषा, साइबरबुलिंग, अपमानजनक टिप्पणियां, और दूसरों को नीचा दिखाना – ये सभी डिजिटल हिंसा के रूप हैं। यह शील आग्रह करता है कि डिजिटल प्लेटफॉर्म्स पर भी दया, करुणा और संयम का व्यवहार किया जाए – भले ही वह आभासी जगत हो।

2) दूसरा शील – चोरी न करना। डिजिटल संदर्भ में इसका अ र्थ है किसी अन्य व्यक्ति के फोटो, वीडियो, विचार या निजी जानकारी को बिना अनुमति के इस्तेमाल न करना। इंटरनेट पर ढेरों निजी जानकारी उपलब्ध होती है, और इसी से डेटा चोरी, हैकिंग, फिशिंग, और साइबर धोखाधड़ी जैसे अपराध जन्म लेते हैं। यह शील हमें याद दिलाता है कि किसी की भी जानकारी या संसाधन का उपयोग बिना स्पष्ट अनुमति के नहीं किया जाना चाहिए – चाहे वह व्यक्तिगत लाभ के लिए हो या व्यापारिक उद्देश्य से।

3) तीसरा शील – यौनाचार में असंयम से बचना। डिजिटल युग में अत्यंत प्रासंगिक हो गया है। आज के समय में ऑनलाइन स्टॉकिंग, अश्लील मैसेज भेजना, रिवेंज पोर्न, बिना अनुमति के फोटो/वीडियो साझा करना जैसी घटनाएं बढ़ती जा रही हैं (हेनरी, 2018)। बौद्ध दृष्टिकोण यह सिखाता है कि जैसे शारीरिक जीवन में किसी का शील भंग करना गलत है, वैसे ही डिजिटल जीवन में भी किसी की गरिमा का उल्लंघन करना उ तना ही अनुचित है। डिजिटल स्पेस में भी शील, मर्यादा और सम्मान को बनाए रखना हमारी सामूहिक जिम्मेदारी है।

4) चौथा शील – असत्य भाषण से बचना। फेक न्यूज़, अफवाहें, भ्रामक हेडलाइन्स, ट्रोलिंग और क्लिक्बेट सामग्री – ये सब असत्य भाषण के डिजिटल रूप हैं। आज के सोशल मीडिया एल्गोरिदम अक्सर सबसे ज़्यादा सनसनी फैलाने वाली बातों को फैलाते हैं (echo chambers) (चिनेली, 2021), जिससे सत्य पीछे छूट जाता है। यह शील हमें याद दिलाता है कि सत्य, विवेक और ईमानदारी डिजिटल संवाद में भी उतने ही आवश्यक हैं जितने पारंपरिक संवाद में।

5) पाँचवां शील – मादक पदार्थों से दूर रहना। इस शील की व्याख्या आज डिजिटल नशे के संदर्भ में की जा सकती है। लगातार स्क्रीन देखना, अंतहीन स्क्रॉल करना, नोटिफिकेशन के पीछे भागना – यह सब मस्तिष्क की डोपामाइन प्रणाली को वैसे ही उत्तेजित करता है जैसे पारंपरिक नशे करते हैं (ऑल्टर, 2018) (मॉन्टैग,

2021)। सोशल मीडिया और ऐप्स हमें उस आनंद की तलाश में लगाए रखते हैं जो हमें तृप्त नहीं करता, बल्कि और ज्यादा चाहता है। इससे तनाव, अवसाद और मानसिक असंतुलन उत्पन्न होता है। इस प्रकार डिजिटल एडिक्शन भी एक तरह का मानसिक नशा है और इस से मुक्ति के लिए उतनी ही सजगता और आत्म-नियंत्रण की आवश्यकता है।

पंचशील केवल व्यक्तिगत अनुशासन नहीं सिखाते, बल्कि वे डिजिटल नागरिकता के लिए एक नैतिक दिशा-निर्देश बन सकते हैं। यदि इन्हें आधुनिक संदर्भ में दोबारा समझा जाए, तो ये डिजिटल स्पेस को भी एक ध्यान, क रुणा और जागरूकता का क्षेत्र बना सकते हैं – जहां उपयोगकर्ता न केवल दूसरों के लिए जिम्मेदार हैं, बल्कि अपने आत्म-कल्याण की दिशा में भी अग्रसर हो सकते हैं।

निष्कर्ष: बौद्ध दर्शन से डिजिटल मुक्त जीवन की ओर

हमारे रोजमर्रा के जीवन के वे दृश्य-एक ही छत के नीचे र हने वाले परिवारजन जो एक-दूसरे से कटे हुए, अपने-अपने डिजिटल उपकरणों में खोए रहते हैं; बच्चे जो तब तक खाना नहीं खाते जब तक उनके सामने यूट्यूब न चले; युवा जो चैन की नींद छोड़कर रात भर बिंज-वॉचिंग करते हैं- ये केवल जीवनशैली में बदलाव के संकेत नहीं हैं, ये एक ग हरी चेतावनी हैं। यह चेतावनी है – अप्प दीपो भव –स्वयं अपने जीवन के दीपक बनने की।

जैसा कि इस लेख में विश्लेषित किया गया है, ये दृश्य केवल व्यवहारगत समस्या नहीं है, बल्कि यह मानसिक भ्रांति और चेतना के विछेदन का प्रतीक है। डिजिटल व्यसन कोई सतही आदत नहीं, यह क गहरा आध्यात्मिक असंतुलन है, जिसकी जड़ें तृष्णा, आसक्ति और अविद्या में छिपी है- जिन्हें बुद्ध के दर्शन ने दुःख के मूल कारणों के रूप में स्वीकारा है। इस दृष्टि से देखा जाए तो बौद्ध मार्ग केवल संयम का उपदेश नहीं देता, बल्कि एक रूपांतरण का आमंत्रण देता है- अनियंत्रितउपभोग से सजगता की ओर।

डिजिटल गुलामी से मुक्ति पाने के लिए तकनीक को त्यागना नहीं, बल्कि अपने मन के ऊपर नियंत्रण प्राप्त करना आवश्यक है। पंचशील इस संदर्भ में, एक नैतिक स्तंभ प्रदान करता है-जो डिजिटल जीवन में करुणा, विवेक और आत्म-जागरूकता का मार्ग प्रशस्त करता है। यह हमें बोध कराता है कि जब चारों ओर संवेदनाओं की बाढ़ हो, तब भी सच्चा सुख अंतहीन स्क्रॉलिंग से नहीं, बल्कि शील से तृष्णा के अंत से होता है। जुड़ाव केवल मैसेजिंग या अपडेट्स से नहीं, बल्कि वर्तमान क्षण में पूर्ण

उपस्थिति से गहराता है। और वह मौन, जो स्क्रीन के परे पसरा है, कोई रिक्तता नहीं, बल्कि बुद्ध के अनुसार वह ध्यान, स्पष्टता, शांति और समत्व का प्रवेश-द्वार है।

अतः यदि यह डिजिटल युग हमें तकनीक का यूज़र बना रहा है, तो बुद्ध की दृष्टि हमें ध्यान का स्वामी बनने की सीख देती है। आज जब तकनीक और एल्गोरिद्म हमारी सोच से भी तेज़ हो चले हैं, तब ज़रूरत इस बात की है कि मनुष्य और भी ज्यादा विवेकशील बनें- तकनीक का प्रयोग करें, लेकिन तकनीक के द्वारा प्रयुक्त न हो जाएं। सच्ची मुक्ति- डिजिटल से पलायन में नहीं, बल्कि उसके साथ जीने में है - शील, समाधि और प्रज्ञा के साथ। यही तीन रत्न, बौद्ध दर्शन की आत्मा हैं और आज के डिजिटल युग के लिए भी सबसे प्रासंगिक औषधि।

संदर्भ

1. एडिक्शनसेंटर। (n.d.)। इंटरनेट एडिक्शन? प्राप्त किया गया www.addictioncenter.com से: https://www.addictioncenter.com/drugs/internet-addiction/
2. अलमोराड, एम . बी. (2020)। डिफाइनिंग डिजिटल एडिक्शन: की फीचर्स फ्रॉम द लिटरेचर। साइकॉलोजिया, 237--253।
3. ऑल्टर, ए . (2018)। इर्रेसिस्टिबल: द राइज़ ऑफ एडिक्टिव टेक्नोलॉजी एंड द बिज़नेस ऑफ कीपिंग अस हुक्ड। पेंगुइन।
4. अमेरिकन साइकिएट्रिक एसोसिएशन। (2013)। डायग्नॉस्टिक एंड स्टैटिस्टिकल मैनुअल ऑफ मेंटल डिसऑर्डर्स फिफ्थ एडिशन DSM-5TM। अमेरिकन साइकिएट्रिक एसोसिएशन।
5. आंद्रेआसेन, सी. एस . (2012)। डेवलपमेंट ऑफ अ फेसबुक एडिक्शन स्केल। साइकोलॉजिकल रिपोर्ट्स 110(2), 501–517।
6. बसुरॉय, टी. (2023, जून 28)। सोशल मीडिया यूसेज इन इंडिया - स्टैटिस्टिक्स एंड फैक्ट्स। प्राप्त किया गया www.statista.com से: https://www.statista.com/topics/5113/social-media-usage-in-india/#topicOverview
   बौध, बी. एस . (2018)। बौधाचार्य प्रकाश। नई दिल्ली: सम्यक प्रकाशन।
7. बेल, वी., बिशप, डी. वी., एंड प्ज़ीबिल्स्की, ए . के. (2015)। द डिबेट ओवर डिजिटल टेक्नोलॉजी एंड यंग पीपल। दबीएमजे।
8. बिलियू, जे., एमॉन्फ्रेट, जे. (2015)। कैन डिसऑर्डर्ड मोबाइल फोन यूज़ बी कंसिडर्ड अ बिहेवियरल एडिक्शन? एन अपडेट ऑन करंट एविडेंस एंड अ कॉम्प्रिहेंसिव मॉडल फॉर फ्यूचर रिसर्च। करंट एडिक्शन रिपोर्ट्स, 2(2), 156-162।
   चौधरी, एस . (2022, दिसंबर 03)। अ सर्वे रिवील्स हाउ बैड इज़ इंटरनेट एडिक्शन अमंग इंडियन चिल्ड्रन। प्राप्त किया गया www.bqprime.com से: https://www.bqprime.com/nation/a-survey-reveals-how-bad-is-internet-addiction-among-indian-children

9. चाउ, सी., चाउ, सी. (2005)। अ रिव्यू ऑफ द रिसर्च ऑन इंटरनेट एडिक्शन। एजुकेशनल साइकोलॉजी रिव्यू, 17, 363-388।

10. क्रिस्टाकिस, डी. ए . (2019)। द चैलेंजेज़ ऑफ डिफाइनिंग एंड स्टडीइंग "डिजिटल एडिक्शन" इन चिल्ड्रन। जामा, 321(23), 2277-2278।

11. चिनेली, एम ., डोनाटी, एस . (2021)। द इको चेम्बर इफेक्ट ऑन सोशल मीडिया। प्रोसीडिंग्स ऑफ द नेशनल एकेडमी ऑफ साइंसेज़, 118(9), e2023301118। कस्टमर मार्केट इनसाइट्स। (2023)। इंडिया स्मार्टफोन मार्केट 2024–2033। प्राप्त किया गया www.custommarketinsights.com से: https://www.custommarketinsights.com/report/india-smartphone-market/
डाहल, डी., डाहल, एल . (2020)। प्रॉब्लेमेटिक इंटरनेट यूज़: अ स्कोपिंग रिव्यू–लॉन्गिट्यूडिनल रिसर्च ऑन अ कंटेम्पररी सोशल प्रॉब्लम, 2006–2017। नॉर्डिक स्टडीज़ ऑन अल्कोहल एंड ड्रग्स, 37(6), 497-525।

12. ग्रिफिथ्स, एम . (2007)। गैम्बलिंग एडिक्शन ऑन द इंटरनेट। इन इंटरनेट एडिक्शन: अ हैंडबुक एंड गाइड टू इवैलुएशन एंड ट्रीटमेंट (pp. 91-111)। न्यू जर्सी: जॉन वाइली एंड सन्स, इंक।

13. हेनरी, एन ., पॉवेल, ए . (2018)। टेक्नोलॉजी-फैसिलिटेटेड सेक्सुअल वायलेंस: अ लिटरेचर रिव्यू ऑफ एम्पिरिकल रिसर्च। ट्रॉमा, वायलेंस, एंड अब्यूज़, 19(2), 195–208।

14. IAMAI, कांतार। (2023)। इंटरनेट इन इंडिया 2023। कांतार।

15. ICUBE2022। (2023)। इंटरनेट इन इंडिया 2022। कांतार, IAMAI।

16. इंटरनेशनल डेटा कॉर्पोरेशन। (2025, फरवरी 10)। इंडिया'ज़ स्मार्टफोन मार्केट ग्रू 4% इन 2024 टू 151 मिलियन यूनिट्स। प्राप्त किया गया International Data Corporation से: https://my.idc.com/getdoc.jsp?containerId=prAP53185725

17. जैन डॉ., के. (1983) । द कॉन्सेप्ट ऑफ पंचशील इन इंडियन थॉट। वाराणसी: पी.वी. रिसर्च इंस्टिट्यूट।

18. केलेस, बी., मैकक्रे, एम . (2020)। अ सिस्टेमैटिक रिव्यू: द इन्फ्लुएंस ऑफ सोशल मीडिया ऑन डिप्रेशन, एंग्जायटी एंड साइकोलॉजिकल डिस्ट्रेस इन अडोलसेंट्स। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ अडोलसेंस एंड यूथ, 25(1), 79–93।

19. केराई, ए . (2023, जुलाई 21)। सेल फोन यूसेज स्टैटिस्टिक्स: मॉर्निंग्स आर फॉर नोटिफिकेशन्स। प्राप्त किया गया www.reviews.org से: https://www.reviews.org/mobile/cell-phone-addiction/

20. किराली, ओ., पोटेंजा, एम . (2020)। प्रिवेंटिंग प्रॉब्लेमेटिक इंटरनेट यूज़ ड्यूरिंग द कोविड-19 पैंडेमिक: कंसेंसस गाइडेंस। कॉम्प्रिहेंसिव साइकिएट्री, 100, 152180। कोंग मेंग सान फोर कार्क सी मठ। (1999)। बी अ लैम्प अपॉन योरसेल्फ। सिंगापुर: अवेकन पब्लिशिंग एंड डिज़ाइन।

21. कुस, डी. जे., एंड ग्रिफिथ्स, एम . डी. (2017)। सोशल नेटवर्किंग साइट्स एंड एडिक्शन: टेन लेसन्स लर्न्ड। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एनवायरनमेंटल रिसर्च एंड पब्लिक हेल्थ 14(3), 311।

22. लव , टी. एल ., लैफरटी, सी. (2015)। न्यूरोसाइंस ऑफ इंटरनेट पोर्नोग्राफी एडिक्शन: अ रिव्यू एंड अपडेट। बिहेवियरल साइंसेज़, 5(3), 388-433।

23. महाप्रज्ञ, आ. (1999)। भेद में छिपा अभेद। लाडनूं: जैन विश्व भारती।

24. मार, बी. (2023, जनवरी)। डिजिटल एडिक्शन: शुड यू बी वरीड? प्राप्त किया गया www.forbes.com से: https://www.forbes.com/sites/bernardmarr/2023/01/11/digital-addiction-should-you-be-worried/?sh=1c96dfb759c3

25. मिनिस्ट्री ऑफ कम्युनिकेशंस। (2025, फरवरी 01)। डिजिटल इन्फ्रास्ट्रक्चर इन इंडिया सपोर्टिंग द ड्रीम ऑफ अ विकसित भारत। प्राप्त किया गया प्रेस इन्फॉर्मेशन ब्यूरो, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया से: https://static.pib.gov.in/WriteReadData/specificdocs/documents/2025/feb/doc202521494701.pdf

26. मनी कंट्रोल। (2022, दिसंबर 14)। इंडियंस स्पेंड 7.3 ऑवर्स ऑन फोन एवरी डे, मोर देन अमेरिकन्स एंड चाइनीज़: रिपोर्ट। प्राप्त किया गया www.redseer.com से: https://redseer.com/media/indians-spend-7-3-hours-on-phone-every-day-more-than-americans-and-chinese-report/

मॉन्टैग, सी., स्टील, डी. (2016)। एन अफेक्टिव न्यूरोसाइंस फ्रेमवर्क फॉर द मॉलिक्यूलर स्टडी ऑफ इंटरनेट एडिक्शन। फ्रंटियर्स इन साइकोलॉजी, 7, 1906।

27. मॉन्टैग, सी., वेट्ज़लर, एम . (2021)। हाउ टू ओवरकम टैक्सोनॉमिकल प्रॉब्लम्स इन द स्टडी ऑफ इंटरनेट यूज़ डिसऑर्डर्स एंड व्हाट टू डू विथ "स्मार्टफोन एडिक्शन"? जर्नल ऑफ बिहेवियरल एडिक्शन्स, 9(4), 908-914।

28. पीटीआई। (2024, मार्च 23)। 60 परसेंट ऑफ चिल्ड्रन एट रिस्क ऑफ डिजिटल एडिक्शन: सर्वे। प्राप्त किया गया द टाइम्स ऑफ इंडिया से: https://timesofindia.indiatimes.com/science/60-per-cent-children-at-risk-of-digital-addiction-survey/articleshow/108730633.cms

29. रोज़, एस ., डफी, पी. (2014)। टुवर्ड्स एन अंडरस्टैंडिंग ऑफ इंटरनेट-बेस्ड प्रॉब्लम शॉपिंग बिहेवियर: द कॉन्सेप्ट ऑफ ऑनलाइन शॉपिंग एडिक्शन एंड इट्स प्रपोज़्ड प्रेडिक्टर्स। जर्नल ऑफ बिहेवियरल एडिक्शन्स, 3(2), 83-89।

30. सक्सेना, डी. पी. (2012)। भारतीय दर्शन में क्या है? दिल्ली: हिन्दुलॉजी बुक्स।

31. शर्मा, बी. एल . (2022)। द डार्क एट द एंड ऑफ द टनल : डूमस्क्रॉलिंग ऑन सोशल मीडिया न्यूज़फीड्स। टेक्नोलॉजी, माइंड, एंड बिहेवियर।

32. साइमन, के. (2025, फरवरी 25)। डिजिटल 2025: इंडिया। प्राप्त किया गया www.datareportal.com से: https://datareportal.com/reports/digital-2025-india सिंह, एस ., संगवान, सी. (2021)। असेसिंग डिटरमिनेंट्स इंफ्लुएंसिंग कंटीन्यूड यूज़ ऑफ लाइव स्ट्रीमिंग सर्विसेज़: एन एक्सटेंडेड परसीव्ड वैल्यू थ्योरी ऑफ स्ट्रीमिंग एडिक्शन। एक्सपर्ट सिस्टम्स विद एप्लिकेशन्स, 168, 114241।

33. स्टैटिस्टा रिसर्च डिपार्टमेंट। (2025, मार्च 03)। रैंकिंग ऑफ द नंबर ऑफ स्मार्टफोन यूज़र्स बाय कंट्री 2024। प्राप्त किया गया www.statista.com से: https://www.statista.com/forecasts/1146962/smartphone-user-by-country

सन , एस . (2023, मई 02)। एवरेज डेटा कंजंप्शन पर यूज़र पर मंथ इन इंडिया फ्रॉम 2015 टू 2022। प्राप्त किया गया www.statista.com से: https://www.statista.com/statistics/1114922/india-average-data-consumption-per-user-per-month/

टंडन, ए ., डोहरिया, एस . (2021)। फियर ऑफ मिसिंग आउट (FoMO) अमंग सोशल मीडिया यूज़र्स: अ सिस्टेमैटिक लिटरेचर रिव्यू, सिन्थेसिस एंड फ्रेमवर्क फॉर फ्यूचर रिसर्च। इंटरनेट रिसर्च, 31(3), 782-821।

34. तुली, यू. आर . (n.d.)। धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त बौध धर्म में आचार- पद्धति। दिल्ली: बुद्ध विहार भारतीय सभा।

35. ट्वेंग, जे. एम . (2018)। इन्क्रीसेज़ इन डिप्रेसिव सिम्प्टम्स, सुसाइड-रिलेटेड आउटकम्स, एंड सुसाइड रेट्स अमंग यू.एस . अडोलसेंट्स आफ्टर 2010 एंड लिंक्स टू इन्क्रीस्ट न्यू मीडिया स्क्रीन टाइम। क्लिनिकल साइकोलॉजिकल साइंस, 6(1), 3-17।

36. उपाध्याय, के. एन . (2014)। बौध धर्म उत्पत्ति और विकास। पंजाब: राधा स्वामी सत्संग ब्यास।

37. विश्व स्वास्थ्य संगठन (2018)। इंटरनेशनल क्लासिफिकेशन ऑफ डिज़ीज़ेज़ फॉर मॉर्टालिटी एंड मॉर्बिडिटी स्टैटिस्टिक्स। विश्व स्वास्थ्य संगठन। प्राप्त किया गया www.who.int से: Addictive behaviours: Gaming disorder

38. विज़डम लाइब्रेरी। (2018, जनवरी 24)। अ डिस्कोर्स ऑन पटीच्चसमुप्पादा। प्राप्त किया गया www.wisdomlib.org से: https://www.wisdomlib.org/buddhism/book/a-discourse-on-paticcasamuppada/d/doc1962.html
विश्व स्वास्थ्य संगठन। (2015)। पब्लिक हेल्थ इम्प्लिकेशन्स ऑफ एक्सेसिव यूज़ ऑफ द इंटरनेट, कंप्यूटर्स, स्मार्टफोन्स एंड सिमिलर इलेक्ट्रॉनिक डिवाइसेज़। विश्व स्वास्थ्य संगठन।विलियम्स, पी., ट्राइब, ए ., एवं विन, ए . (2012). बौद्ध विचार: भारतीय परंपरा का एक संपूर्ण परिचय. रूटलेज प्रकाशन।

39. यंग, के. एस . (1998)। इंटरनेट एडिक्शन: द इमर्जेंस ऑफ अ न्यू क्लिनिकल डिसऑर्डर। साइबरसाइकोलॉजी एंड बिहेवियर, 1(3), 237-244।

शोध-छात्र
डिपार्टमेंट ऑफ़ जैनोलॉजी एंड कम्पेरेटिव रिलिजन एंड फिलॉसोफी
जैन विश्वभारती इंस्टिट्यूट, लाडनूं, राजस्थान

विशिष्टाद्वैत दर्शन की ज्ञानमीमांसीय समीक्षा : प्रतितन्त्रों के सन्दर्भ में

डॉ. अनुराग पाण्डेय

वस्तुत: किसी भी दार्शनिक वैचारिकी का ज्ञानमीमांसीय पक्ष उसकी तत्वमीमांसा का निर्धारण करता है। प्रथमतया तो ज्ञान की प्रकृति तथा ज्ञान से उसके सम्बन्ध के साथ-साथ ज्ञाता व बाह्यजगत का सम्बन्ध ही इस सीमा का निर्धारण कर देता है कि तार्किकतया हम तत्व के बारे में किस प्रकार व कितना जान सकते हैं। द्वितीय यह कि बिना ज्ञानमीमांसीय आधार के तत्वमीमांसा मताग्रही हो जाती है। पाश्चात्य दर्शन में बुद्धिवाद व अनुभववाद की चिन्तन धाराएँ इसकी प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। पुन: उपर्युक्त पक्ष एकांगी ही होगा जब तक यह न कहा जाय कि ज्ञानमीमांसा जो तत्वमीमांसा का निर्धारण करती है, स्वयं भी तत्वमीमांसा के द्वारा निर्धारित होती है। अतएव पूर्ण निश्चितता के साथ यह कहना कि किसी एक की दूसरे पर एकपक्षीय निर्भरता होती है, एक असंगत तथ्य है। ऐसा इसलिए कि बिना तत्वमीमांसा के ज्ञानमीमांसा की परिणति उत्कट संशयवाद या सर्ववैनाशिकता में होती है। हमारे ज्ञानमीमांसीय तर्कवाक्य तदन्तर्निहित किसी न किसी तत्वमीमांसा की ओर तो संकेत करते ही हैं। हालाँकि इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि तत्त्वमीमांसा किसी ज्ञानमीमांसा की पूर्वमान्यता है, पूर्णतया अबौद्धिक है जिसकी परिणति तार्किक भाववादी चिन्तन-धारा के रूप में उद्धरणीय है।

प्रश्न उठता है कि ज्ञान क्या है? सामान्य मानवीय समझ के अनुसार ज्ञान का तात्पर्य है- ज्ञाता व ज्ञेय का सम्बन्ध। जानने का तात्पर्य है किसी ज्ञेय विषय को जानना। ज्ञान सदैव किसी ज्ञेय विषय की ओर संकेत करता है।[1] विषयरहित ज्ञान अग्राह्य है। इसी प्रकार ज्ञेय के लिए किसी ज्ञाता का होना नितान्त आवश्यक है। ज्ञान जिस प्रकार ज्ञेय-विषय के बिना असम्भव है ठीक उसी भाँति ज्ञाता के बिना भी। इस प्रकार ज्ञान का कार्य है ज्ञेय विषय को ज्ञाता के लिए प्रकाशित मात्र कर देना। ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध अथवा ज्ञान कुछ ऐसा नहीं है जिसे ज्ञाता पर थोपा जाता है प्रत्युत् एतद्विपरीत यह स्वभावत: ज्ञान की प्रकृति ही है। इस

प्रकार की मान्यता से आचार्य रामानुज ज्ञान के तत्वमीमांसीय व तार्किक, दोनों ही पक्षों के बीच की खाई को समाप्त करने का सफल प्रयास करते हैं। आत्मतत्व की स्थिति विशिष्टाद्वैत दर्शन में एक अतीन्द्रिय सैद्धान्तिकता व तार्किक ज्ञाता दोनों ही रूपों में बनी रहती है अत: तत्वमीमांसीय व तार्किक दोनों ही सत्ताएँ एक ही हैं तथा आत्मा के तार्किक व सत्तामीमांसीय पक्ष में तादात्म्य पाया जाता है। उपर्युक्त वर्णन से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि आत्मतत्त्व स्वयं व ज्ञेय विषय दोनों को ही प्रकाशित करता है।

पुन: विशिष्टाद्वैत दर्शन में ज्ञान एक द्रव्य होकर भी आत्मतत्व के अनिवार्य गुण के रूप में स्वीकार किया गया है। उसके अनुसार एक ही समय में एक ही तत्त्व अर्थात् ज्ञान का गुण व द्रव्य दोनों ही रूपों में होना व्याघाती नहीं है।[2] ज्ञान का द्रव्य होना अथवा उपादान होना उसके संकोच व विकास की क्षमता से अनुमेय है (बुद्धिद्रव्यम् प्रसरणादिमत्वात्), परन्तु ज्ञाता से सम्बन्ध के रूप में यह उसका अनिवार्य गुण है क्योंकि यह ज्ञाता से अवियोज्य व अपृथकसिद्ध सम्बन्ध से सम्बद्ध है। उल्लेखनीय है कि आचार्य रामानुज ज्ञान व चेतना में विभेद नहीं करते हैं अतएव चेतना एक ही समय में द्रव्य व गुण दोनों ही है। न्यायसिद्धांजन की उक्ति है कि ज्ञाता के गुण के रूप में ज्ञान तथा गुण के रूप में ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से विषय के सम्पर्क में आता है। इस प्रकार ज्ञान स्वयं को तथा सम्पर्क में आने वाले ज्ञेय-विषय दोनों को ही प्रकाशित करता है।[3]

विशिष्टाद्वैत दर्शन में ज्ञान सदैव ज्ञाता व ज्ञेय के संश्लेषण की प्रागपेक्षा रखता है। भारतीय दर्शन में योगाचार विज्ञानवाद तथा पाश्चात्य दर्शन में बर्कले जैसे प्रत्ययवादी विचारकों की ज्ञानमीमांसीय समस्या का मूल कारण यह था कि वे ज्ञान को मन की एक अवस्था-विशेष तथा विचारों के संग्रह के रूपी किसी मानसिक अवस्था के रूप में कल्पित करते हैं। बर्कले के अनुसार विश्व के सभी पदार्थ विचारों अथवा प्रत्ययों के समूह मात्र हैं। पुन:, चूँकि विचारों का अस्तित्व विचार करने वाले आत्मा पर निर्भर है अतएव समूचा संसार आत्मा पर ही निर्भर है। पुन: हमें आत्मा सम्बन्धी किसी प्रत्यय का ज्ञान नहीं होता है तथापि उसका अनुभव एक विशेष प्रकार के ज्ञान द्वारा होता है जिसे वह अन्तर्बोध (Intution) की संज्ञा देता है। इस प्रकार आत्मा को वह प्रत्ययों के संघात के रूप में नहीं बल्कि प्रत्ययों के आश्रयभूत द्रव्य के रूप में स्वीकार करता है। हालाँकि बर्कले यह स्वीकार करता है कि गुणों से पृथक् किसी द्रव्य की कल्पना सदैव अग्राह्य है तथापि किसी वस्तु को गुणों का समूह मात्र स्वीकार करना साथ ही गुणों को वस्तुनिष्ठ नहीं प्रत्युत् आत्मनिष्ठ मान लेना उसकी बड़ी भूल थी।

वस्तुत: दर्शन को सदैव ही मानवीय अनुभवों व व्यवहार से अपनी सामग्री का चुनाव करना होता है तथा इस तथ्य की प्रत्ययवादी विचारक अवहेलना करते हैं। यह भी सत्य है कि कतिपय विचारक सामान्य अनुभव को उसकी अस्पष्टता, दुरूहता तथा भ्रामकता के आधार पर नकार देते हैं तथा इस सन्दर्भ में ऐसी तर्कणाओं का सृजन करने में गर्वानुभूति करते हैं जो सामान्य मानवीय अनुभव व व्यवहारों का निषेध कर जाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पुनरुत्थापित तथ्य व तर्कणा मानवीय व्यवहार से इतर एक तार्किक गल्प का निर्माण कर देती है जिसकी वास्तविक सत्ता में कोई प्रामाणिक अस्तित्व नहीं होता है। अतएव यह समीक्षा का विषय है कि यदि हमें सामान्य अनुभव की आलोचना करनी ही है तब इसका प्रत्युत्तर किसी ऐसे वाद द्वारा दिया जाना पूर्णतया असंगत होगा जो वाद-बिन्दु सामान्य अनुभव की उन परिस्थितियों का निषेध कर देता हो, जिन्हें सार्वभौमिक स्वीकृति प्राप्त है। निष्कर्षत: यह कहना आवश्यक है कि हमारा अनुभव स्वत: कारण से उत्पन्न न होकर बाह्य विषय से उत्पन्न होता है। ज्ञान की किसी भी अवस्था का ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत से पृथक कोई अस्तित्व व स्पष्टीकरण नहीं हो सकता है। ज्ञान की प्रक्रिया में बाह्य ज्ञेय विषय के अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष ज्ञाता का है। कतिपय वस्तुवादी विचारक ज्ञानमीमांसीय विवेचना के सभी पक्षों से ज्ञाता तत्व की सत्ता मात्र का निषेध करने का प्रयास करते हैं तथा यह विश्वास उन्हें Pan-objectivism की ओर ले जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वे मानसिक भ्रम की समस्या से छुटकारा पाना चाहते हैं परन्तु जितना वे इससे दूर भागना चाहते हैं यह समस्या उनके लिए उतनी ही जटिल होती जाती है। कारण यह है कि बिना ज्ञाता की सत्ता में विश्वास किए हुए हम विषयों को किस प्रकार जानते हैं, इसकी व्याख्या करना उनके लिए असम्भव हो जाता है।

समकालीन पाश्चात्य दर्शन के कतिपय महत्वपूर्ण वस्तुवादी विचारकों ने अपनी चिन्तन-प्रणाली में ज्ञेय-विषय की प्राथमिकता को स्थान देते हुए एक प्रकार के दार्शनिक आन्दोलन की शुरूआत की तथा इस क्रम में उन्होंने ज्ञाता को ज्ञेय से स्वतन्त्र करने के उद्देश्य से वस्तुत: ज्ञानमीमांसा से तत्वमीमांसा को ही पृथक कर दिया। दूसरी ओर काण्ट के उत्तरवर्ती काल में मन अथवा बुद्धितत्व को प्राथमिकता देने के क्रम में ज्ञेय विषय की अवहेलना की गयी। अतएव कभी ज्ञाता तथा कभी ज्ञेय तत्व को प्राथमिकता प्रदान करने के परिणामस्वरूप अतिवादी मान्यताओं को प्रश्रय मिला तथा इन अतिवादी दृष्टिकोणों के आधार पर ज्ञानमीमांसीय समस्याओं का निदान कर पाना असम्भव ही था। पुन: भारतीय दर्शन में सांख्य दर्शन तथा पाश्चात्य दर्शन में कार्टीजियन द्वैतवादियों ने

ज्ञाता व ज्ञेय के पारस्पारिक अन्तर्सम्बन्धों पर विचार अवश्य किया तथापि इन दोनों ही दर्शनों की मान्यताओं में स्वीकृत दो सत्ताओं का द्वैत, ज्ञानमीमांसीय समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर पाने में प्रकृत्या असमर्थ था। सांख्य दर्शन के द्वैतवाद ने तो मूर्त मानवीय अनुभवों की आंगिक एकता को ही विभक्त कर उन्हें एकांगी बना दिया। ज्ञेय विषय, तभी ज्ञेय-विषय है जबकि वह ज्ञाता से सम्बद्ध हो। अत: सांख्य दर्शन का विश्वास है कि ज्ञाता अपनी चेतना के माध्यम से ज्ञेय विषय का प्रकाशन करता है। उनका मानना है कि ज्ञेय विषय बुद्धि के सम्पर्क में आता है तथा आत्मा का प्रतिबिम्ब बुद्धि पर पड़ता है तथा इस रूप में बुद्धि विषयाकार हो जाती है। इस प्रकार ज्ञेय-विषय की विरूद्ध प्रकृति वाला ज्ञाता उसे जानने में समर्थ होता है। सांख्य दर्शन में इस प्रकार ज्ञान एक परोक्ष घटना है, प्रत्यक्ष नहीं।

इस प्रकार की व्याख्या का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि सांख्य दर्शन ने सदैव ज्ञाता व ज्ञेय के बीच के द्वैत को बनाए रखने को ही महत्व दिया साथ ही आत्मा के रूपान्तरण तथा वस्त्वाकार ग्रहण करने पर भी इसलिए प्रश्नचिन्ह लगा दिया क्योंकि ज्ञाता (आत्मतत्व) सत्व, रजस तथा तमस गुणों से भिन्न प्रकृति का तथा अपरिवर्त्य व अविकारी तत्व है, यद्यपि यह वस्तु को बुद्धि की प्राक्कल्पना के रूप में जानता है। विज्ञानभिक्षु का मानना है कि बुद्धि की प्रणाली ही यह है कि यह ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध को समझती है परन्तु यदि ज्ञेय विषय ज्ञाता से सर्वथा भिन्न प्रकृति का तथा पृथक है तब ऐसी स्थिति में ज्ञाता प्रकाशित करने की क्षमता वाला होकर भी वस्तु को कैसे जान सकता है? यही कारण है कि राधाकृष्णन सांख्य के द्वारा प्रस्तुत ज्ञेय-विषय के प्रकाशन तथा सामीप्य आदि को काल्पनिक रोग के समाधानार्थ प्रस्तुत कृत्रिम उपाय कहते हैं।[4]

सांख्य के अनुसार बुद्धि का अपना एक आकार है जिसके माध्यम से वह विषय को ग्रहण करती है, इसे ही वृत्ति कहा गया है। कोई भी ज्ञान, वृत्ति ज्ञान है। ज्ञाता में वृत्तियों का प्रतिबिम्बन होता है परिणामस्वरूप ज्ञान होता है। परन्तु क्या यह ज्ञान है अथवा रूपान्तरण मात्र? यदि तर्कत: कहें तो यह एक प्रकार का रूपान्तरण मात्र है जिसमें 'ज्ञान' पद स्वरूपत: व्याख्यायित नहीं हो पाता है। प्रत्यक्षीकृत होना (To be perceived) तथा रूपान्तरित होना (To be manifested) अथवा वृत्ति का रूप ग्रहण करना दो पृथक-पृथक स्थितियाँ हैं।[5] इस प्रकार सांख्य दर्शन में मान्य बुद्धि, वृत्तियों का संग्रह-स्थान (Treasure house) तो हो सकती है परन्तु यह पुरूष को ज्ञेय-विषय के ज्ञाता का स्वरूप नहीं दे सकती है।

उल्लेखनीय है कि सांख्य तथा पाश्चात्य दार्शनिक देकार्त की दार्शनिक मान्यताएँ प्रतिनिधित्ववाद (Theory of Representation) की वैचारिकी में परिणत हो जाती हैं तथा यह स्पष्ट ही है कि भारतीय व पाश्चात्य दोनों ही दर्शन-धाराओं में प्रतिनिधित्ववाद (Theory of Representation) आत्मनिष्ठतावाद अथवा शून्यवाद (Nihilism) की ओर ले जाने का मार्ग है। अतएव ज्ञानमीमांसीय पक्ष यह निकलता है कि ज्ञाता व ज्ञेय को द्विध्रुवीय पृथकता के रूप में व्याख्यायित करने तथा उनके सामीप्य से ज्ञान की परिकल्पना करने वाले सिद्धान्त स्वयं में ही ज्ञानमीमांसीय समस्या हैं। अत: सिद्ध है कि एक ऐसा मत, जो न तो बाह्य जगत को मानसिक भ्रम की स्थिति (प्रत्ययवाद) में तथा न ही वस्तुवाद की भाँति ज्ञाता को ज्ञेय से सर्वथा पृथक स्थिति में रखता हो, वही ज्ञानमीमांसीय समस्याओं का संतोषजनक समाधान प्रस्तुत कर सकेगा। वास्तविक ज्ञानमीमांसा वही है जो ज्ञाता-ज्ञेय की एकता को उनके परस्पर पृथक अथवा बाह्य होने के बावजूद अस्तित्व में उन्हें अवियोज्य बनाए रखे। विशिष्टाद्वैत दर्शन की ज्ञानमीमांसा ज्ञाता व ज्ञेय की इस एकता को अपना केन्द्रीय-बिन्दु स्वीकार करती है। पुन: ज्ञाता व ज्ञेय के एकत्व को स्वीकार करने में किसी भी प्रकार की तार्किक विसंगति भी नहीं है तथा यह सामान्य मानवीय अनुभव से भी प्रमाणित है।

आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट ज्ञाता व ज्ञेय के बीच निरपेक्ष द्वैतवाद (Absolute Dualism) तथा इन तत्वों के लिए क्रमश: विचार व विस्तार की प्राक्कल्पना के साथ अपनी दार्शनिक प्राक्कल्पना का आरम्भ करते हैं। जैसा कि ये दोनों तत्व परस्पर विरूद्ध स्वभाव वाले हैं अतएव वे इनके बीच स्वत: सम्पर्क की किसी भी अवधारणा से इन्कार करते हैं। इसके परिणामस्वरूप वे एक नवीन कारक के रूप में एक terrium quid की परिकल्पना करते हैं जिससे इन दो अचेतन तत्वों के सम्बन्ध के साथ-साथ ज्ञानोत्पत्ति की भी व्याख्या हो सके। इस प्रकार जब पीनियल ग्लैण्ड (Pineal Gland) इन दो विरोधी तत्वों में सम्बन्ध स्थापित करता है तब अचेतन ज्ञेय-विषय का प्रतिबिम्बन ज्ञाता में होता है तथा ज्ञान एक तथ्य के रूप में उपस्थित हो जाता है। यहाँ पर यह ध्यान देना आवष्यक है कि देकार्त के अनुसार ज्ञेय विषय की प्रतिलिपि का प्रतिबिम्बन ज्ञाता में होता है अर्थात् ज्ञेय विषय की प्रतिलिपियाँ (Ideas or Copies) ही ज्ञाता के समक्ष ज्ञेय-विषय का प्रतिनिधित्व करती हैं।

अनुभववादी दार्शनिक इस अभिमत की आलोचना करते हैं। पाश्चात्य दर्शन के विचारक इस तथ्य से अवश्यमेव परिचित होंगे कि अमुक सिद्धान्त

ज्ञानमीमांसीय समस्या का कोई संतोषजनक समाधान नहीं कर पाता है। इस सन्दर्भ में प्रमुख प्रश्न यह उठता है कि हम पूर्ण निश्चितता के साथ यह कैसे जानें कि प्रतिलिपियाँ वास्तविक ज्ञेय-वस्तु का सत्य प्रतिनिधित्व कर रही होती हैं। यही समस्या देकार्त के साथ-साथ अनुभववादी दार्शनिक लॉक के दर्शन में भी उपस्थित होती है जिसका देकार्त तथा लॉक दोनों ही दार्शनिक अन्ततः सन्तोषजनक समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं। परिणामतः दो पृथक-पृथक दर्शन-धाराओं से सम्बन्ध रखने वाले दार्शनिक अर्थात् बुद्धिवादी दार्शनिक देकार्त तथा अनुभववादी दार्शनिक लॉक एक ही प्रकार की दार्शनिक समस्या में उलझ जाते हैं। वस्तुतः सत्यता का संवादिता सिद्धान्त यह स्वीकार करता है कि प्रत्यय (Ideas) वस्तुओं की सत्य प्रतिलिपियाँ हैं परन्तु प्रश्न यह है कि प्रतिलिपि क्या है? प्रतिलिपि होने का तात्पर्य किसी वस्तु के समान होना है परन्तु चेतन व अचेतन तत्व परस्पर विरूद्धधर्मक हैं तथा जैसा कि प्रतिलिपियाँ निश्चयतः मानसिक हैं अतएव वे किसी भौतिक वस्तु का प्रतिनिधित्व कैसे कर सकती हैं। पुनः यदि वे भौतिक वस्तु की समानधर्मा प्रतिलिपियाँ नहीं हैं तब वे वस्तु की वास्तविक प्रत्यय नहीं हो सकती हैं तथा परिणामस्वरूप प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद का सिद्धान्त ही असंगत हो जाता है।

ज्ञान किस प्रकार सम्भव है इसकी विवेचना में आचार्य शंकर भी कोई सन्तोषजनक समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं। ज्ञान, वस्तुतः अनिवार्य रूप से ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध के रूप में ही वर्णित किया जा सकता है परन्तु ऐसा स्वीकार न करते हुए अद्वैत वेदान्त ज्ञान को आनुभविक धरातल पर जड़वस्तु बना देता है। हालाँकि आचार्य रामानुज शंकर के इस मत को स्वीकार करते हैं कि सामान्य अनुभवात्मक विचार निरपेक्ष व्यक्तित्व का ग्रहण नहीं कर सकता है तथापि इससे विचार में दोष नहीं आ जाता है। इससे मात्र इतना ही सिद्ध होता है कि कुछ है जो विचार के लिए असम्भव है अर्थात् उसकी एक सीमा है। वस्तुतः आचार्य शंकर की समस्या का कारण ज्ञान को सन्मात्र रूप में स्वीकार करना है। रामानुजाचार्य का मानना है कि ज्ञान के स्वरूप में एक प्रकार की अन्तर्निहित आवश्यकता कार्य करती है जो किसी निर्विकल्प बोध को सविकल्प बोध में परिणत होने को बाध्य करती है। यह आवश्यकता एक प्रकार का प्रयत्न है जो ज्ञान को इस रूप में व्यवस्थित करना चाहती है जिससे कि ज्ञान किसी विशय का सम्बन्ध बृहत्तर पूर्ण इकाई के साथ स्थापित कर सके अर्थात् ज्ञान अपनी उच्चतम अवस्था की प्राप्ति हेतु भी सक्रिय रहता ही है। आचार्य रामानुज के अनुसार कोई भी निर्णयात्मक कथन दो अवयवों को स्वयं में समाहित किए हुए है। प्रथम, यह कि प्रतिपाद्य विषय तथा विधेय एक समान हैं तथा इसी के साथ

यह अवयव भी सन्निहित ही है कि प्रतिपाद्य विषय तथा विधेय भिन्न-भिन्न हैं। किसी निर्णय को निर्णय तभी कहा जा सकता है जबकि वह वस्तु के भिन्न-भिन्न रूपों के अन्दर समानता के तत्व को अक्षुण्ण रखने में समर्थ हो। वस्तुओं के अन्दर पायी जाने वाली यह समानता ऐसी होनी चाहिए कि वह अपने अन्तर्गत आने वाले समस्त भेदों को व्यक्त तो करे ही साथ ही उन पर विजय भी प्राप्त कर सके। वस्तुओं के अन्तर्गत पायी जाने वाली यह समानता भी एक प्रकार का सम्बन्ध ही है तथा किसी भी सम्बन्ध के लिए स्वरूपत: दो पदों का होना आवष्यक है ही। पुन: यह भी अत्यन्त आवष्यक है कि वे पद परस्पर भिन्न भी हों अन्यथा वे परस्पर सम्बन्धित नहीं हो सकते हैं। अतएव रामानुजाचार्य के अनुसार सभी प्रकार के भेदों का निषेध वस्तुत: भेदों के सम्बन्धों को ही असम्भव बना देता है। इस सन्दर्भ में 'तत्वमसि' का उदाहरण लेते हैं। आचार्य शंकर का मानना है कि जब हम यह कहते हैं कि 'वह तू ही है' तब ऐसी स्थिति में 'वह' तथा 'तू' के मध्य परस्पर भेद तो है परन्तु निर्णयात्मक कथन दोनों के बीच समानता को ही द्योतित कर रहा होता है।

आचार्य रामानुज इस दृष्टिकोण का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार उपर्युक्त महावाक्य में प्रस्तुत दोनों ही पद सत्ता अथवा यथार्थता के दो पृथक-पृथक स्तरों में समानता का प्रदर्शन कर रहे हैं जबकि समानता व भेद जैसे सम्बन्ध केवल उन पदों पर ही लागू हो सकते हैं जो यथार्थता के समान स्तरों पर हों। जितनी भी प्रकार की समानताएँ हैं वे सब भेद के अन्दर व भेद के द्वारा ही हैं तथा प्रत्येक निर्णय इसी परिप्रेक्ष्य का द्योतक है। उदाहरण के लिए 'आकाश नीला है' इस उदाहरण के दोनों पदों अर्थात् 'आकाश' एवं 'नीला' में तादात्म्य नहीं है तथा न ही इनके बीच किसी प्रकार का भेद ही है। वस्तुत: नीले रंग का पदार्थ तथा नीले रंग का गुण दोनों एक साथ ही विद्यमान रहते हैं, यद्यपि दोनों के ही मूल्यांकन अलग-अलग हैं। इसका कारण यह है कि यथार्थ एक ऐसी निर्दोष पद्धति है जिसका निर्णय उसके अन्तर्गत आने वाले तत्वों के निर्णय से ही निर्गत होता है। अतएव ज्ञान को ज्ञान तभी कहा जा सकता है जबकि वह अपने अन्तर्गत आने वाले उन सभी सम्बन्धों को पूर्णरूपेण व्याख्यायित करे जिनके कारण उनकी सत्ता है।

पुन: आचार्य शंकर के अनुसार सामान्य व्यावहारिक ज्ञान का कोई भी प्रकार अन्तत: अज्ञान ही है अतएव वस्तुओं की वास्तविक प्रकृति को हम नहीं जान सकते हैं। यहाँ पर आचार्य शंकर वस्तु-जगत व आभास का द्वैत उत्पन्न कर देते हैं। उनके अनुसार ज्ञान, माया अथवा अविद्या के शासन-क्षेत्र में ही उत्पन्न हो

रहा है। वस्तुत: आचार्य शंकर ज्ञाता तथा ज्ञेय-वस्तु-जगत को परस्पर विरूद्धधर्मक स्वीकार करते हैं[6] अत: उनके दर्शन में वस्तुओं की योजना में वस्तुओं की वास्तविक प्रकृति के ज्ञान का कोई स्थान नहीं रह जाता है। वस्तुत: इस प्रकार का विचार सत् के ज्ञान के बजाय सत्ता को ही विकृत कर देता है। अत: एक ऐसी तत्वमीमांसा जिसमें ज्ञाता व ज्ञेय तत्व प्रकाश व अन्धकार की भाँति परस्पर विरूद्ध स्वभाव वाले हैं, में किसी प्रकार की ज्ञानमीमांसा सम्भव ही नहीं है। वस्तुत: ज्ञान का सैद्धान्तिक नहीं, अपितु व्यावहारिक महत्व है। आचार्य शंकर तो स्पष्टतया यह घोषणा कर देते हैं कि ज्ञान वस्तुत: अध्यास का परिणाम है। व्यावहारिक ज्ञान अविद्या में निहित है तथा वास्तविक ज्ञान अतीन्द्रिय है। वास्तव में अद्वैत वेदान्ती ज्ञान को आत्मा की वास्तविक प्रकृति की वास्तविक अभिव्यक्ति नहीं कह सकते हैं। अद्वैत वेदान्त में ज्ञान अन्त:करण की प्रक्रिया अथवा लक्षण है, आत्मा की नहीं, क्योंकि 'मैंने देखा' इस प्रकार की अनुभूति अहंकार द्वारा सीमित है।

आचार्य शंकर स्पष्टतया यह कहते हैं कि अज्ञान के बिना ज्ञान एक तथ्य का स्वरूप नहीं ग्रहण कर सकता है।[7] सांख्य दर्शन में जानने की प्रक्रिया हेतु बुद्धितत्व जबकि इस सन्दर्भ में अद्वैत वेदान्त में अन्त:करण नामक आन्तरिक तत्त्व को स्वीकार किया गया है। अद्वैत वेदान्त में ज्ञेय विषय वास्तविक नहीं है क्योंकि यह अविद्याजन्य तत्व है। जब तक अविद्या का प्रभाव है तभी तक ज्ञाता व ज्ञेय सम्बन्ध आनुभविक चेतना में अस्तित्व रखता है। व्यावहारिक ज्ञान वस्तुत: अध्यास का ही परिणाम है तथा अध्यास-पर्यन्त ही इसकी सत्ता भी है। इस प्रकार तत्वमीमांसीय दृष्टि से अद्वैत वेदान्त में ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध का केवल आदर्शात्मक महत्व है। आचार्य शंकर वस्तुवाद का कठोरता से समर्थन करने तथा योगाचार विज्ञानवाद के आत्मनिष्ठतावादी दृष्टिकोण का खण्डन करने के बावजूद वस्तुत: प्रत्ययवादी ही बने रह जाते हैं ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार काण्ट प्रत्ययवादी होकर भी 'स्वयं में वस्तु' (Thing-in-itself) को स्वीकार करते हुए प्रत्ययवाद का प्रत्याख्यान करते हैं।[8]

सांख्य दर्शन की ही भाँति अद्वैत वेदान्त भी ज्ञान को आत्मा के गुण के रूप में स्वीकार नहीं करता है तथा इस सन्दर्भ में अन्त:करण जैसे भौतिक तत्व की प्राक्कल्पना करता है। परन्तु यदि ऐसा ही है तब यह समझना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है कि ज्ञान, ज्ञाता के बजाय भौतिक अहं (Physical Ego) का गुण कैसे बन जाता है साथ ही यह भी कि ऐसा दर्शन स्वयं को भौतिकवाद से कैसे पृथकीकृत रख सकता है? ज्ञान को ज्ञाता का गुण स्वीकार न करने से आत्मतत्व

की स्थिति द्वितीयक हो जाती है तथा यह स्थिति प्रत्ययवाद के ही विरूद्ध है जिसे निष्चयत: आचार्य शंकर स्वीकार नहीं करेंगे। इसीलिए विशिष्टाद्वैत दर्शन की मान्यता है कि ज्ञाता, ज्ञेय से पृथक होकर भी जानने की क्षमता वाला है तथा वह यह जानने की भी क्षमता रखता है कि वह जानता है। वस्तुत: इन्हीं ज्ञानमीमांसीय समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में आचार्य रामानुज अपने सिद्धान्तों को समृद्ध करते हुए ज्ञाता व ज्ञेय के संश्लेषणात्मक पक्ष का स्पष्ट विधान करते हैं।

स्पष्ट है कि अब तक की चिन्तन-धाराएँ या तो ज्ञाता को प्रमुखता प्रदान करने हेतु ज्ञेय वस्तु को द्वितीयक स्थान प्रदान कर रही थीं अथवा ज्ञेय की प्रमुखता हेतु ज्ञाता को। हालाँकि वे इनके पारस्परिक संश्लेषण तथा ज्ञानोत्पत्ति को प्रश्रय अवश्य प्रदान कर रही थीं। वस्तुत: ज्ञान, ज्ञाता व ज्ञेय दोनों के ही संश्लेषण से उत्पन्न होता है तथा इस सम्बन्ध में रामानुजाचार्य, हेगल से अधिक सहमत दिखाई देते हैं। आचार्य रामानुज का ज्ञानमीमांसीय पक्ष इन्हीं पूर्ववर्णित समस्याओं के समाधानार्थ अद्वैत, सांख्य एवं भौतिकवादी मान्यताओं के साथ-साथ वस्तुवाद से भी पृथक हो जाता है। यह अन्य दर्शनों के तार्किक सत्यों को प्रश्रय तो देता है परन्तु एक सीमा तक ही। तार्किकता व अनुभव की कसौटी पर जहाँ तक मान्यताएँ खरी उतरती हैं रामानुजाचार्य के दर्शन में वही तक उनको सम्मानजनक प्रश्रय प्राप्त है।

सांख्य तथा अद्वैत के साथ समस्या यह है कि वे ज्ञान की व्याख्या हेतु कभी तो भौतिकवाद तथा कभी आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद की ओर झुकाव रखते हैं। रामानुज प्रारम्भ में ही स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान सापेक्षिक चेतना है क्योंकि ज्ञाता अथवा ज्ञेय रहित ज्ञान के लिए अद्यतन कोई साक्ष्य नहीं है।[9] यही कारण है कि वे अद्वैत वेदान्त द्वारा प्रस्तुत मन की अवधारणा की आलोचना में प्रश्न करते हैं कि यह समझना असंगत है कि किस प्रकार भौतिक अन्त:करण अथवा अचेतन अहं स्वयं को चेतन ज्ञाता में प्रतिबिम्बित करता है तथा ज्ञानोत्पत्ति में समर्थ होता है। यदि ऐसा है तो प्रश्न यह है कि यह प्रतिबिम्बित होना क्या है? इसका क्या लक्षण है? यह कैसे सम्भव है? इन प्रश्नों का कोई भी उत्तर अद्वैत मत की ज्ञानमीमांसीय समस्या का समाधान नहीं कर सकता है। पुन: यदि अचेतन अहं ही ज्ञाता है तो तदुत्पन्न ज्ञान स्वयं अव्याख्येय हो जायेगा क्योंकि ऐसी स्थिति में अन्त:करण ही ज्ञाता होगा। यह कहना ठीक वैसे ही है कि लोहे में उष्मा है क्योंकि वह अग्नि के सम्पर्क में है। यहाँ ज्ञान वस्तुत: जड़वस्तु से अधिक कुछ नहीं रह जाता है। क्योंकि अन्त:करण अचेतन है अतएव उसमें ज्ञातृत्व लक्षण नहीं हो सकता है तथा ऐसा मानना कि वह ज्ञाता है क्योंकि वह आत्मतत्व के सम्पर्क में

है, तार्किकतया असंगत है।[10] किसी भी वस्तु में अन्य वस्तु के लक्षण अथवा गुण इस आधार मात्र पर नहीं हो सकते हैं कि वह वस्तु अन्य वस्तु के सम्पर्क में है। पुन: स्वयं अद्वैत वेदान्ती ज्ञातृत्व को आत्मा का गुण नहीं स्वीकार करते हैं तथा अन्त:करण में ज्ञातृत्व का होना तार्किकतया तथा स्वभावत: असम्भव ही है। अद्वैत वेदान्ती एक अन्य दावा यह करते हैं कि अहंकार अनुभूति का प्रकाषक तत्व है अर्थात् जिस प्रकार दर्पण अथवा जल में मुख की अभिव्यंजना होती है ठीक उसी प्रकार अन्त:करण भी अपने भीतर अनुभूति का प्रकाषन करता है। आचार्य रामानुज अद्वैत वेदान्त के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार जबकि आत्मा स्वयंप्रकाश है अतएव कोई अचेतन तत्व उसका प्रकाषन कैसे कर सकता है। इस सन्दर्भ में आचार्य रामानुज, यामुनाचार्य के अभिमत का उल्लेख करते हैं जिनके अनुसार अहंकार किसी बुझी हुई आग के समान है तथा आत्मा स्वयंप्रकाश। यह कहना कि स्वयंप्रकाश आत्मा को अन्त:करण प्रकाशित करता है यह कहने के समान उपहासास्पद है जिस प्रकार यह कथन कि बुझी हुई राख अर्थात् जिसमें चिन्गारी भी नहीं है, सूर्य को प्रकाशित करने का कार्य करती है।[11] वस्तुत: अहंकार स्वयं आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होता है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त इस समस्या का सम्यक् समाधान कर पाने में अक्षम है।

अद्वैत वेदान्तियों को यह समझना चाहिए था कि सूर्य के सम्पर्क आने से किसी वस्तु में चमक अवश्य उत्पन्न हो सकती है परन्तु इससे वह वस्तु सूर्य नहीं बन जाती है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि अन्त:करण ही प्रकाशक है क्योंकि वह तो जड़ है तथा आत्मा स्वयंप्रकाश है अत: उसे प्रकाशित होने के लिए किसी अन्य की आवश्यकता ही नहीं है। पुन: अहंकार स्वयं अज्ञानोत्पन्न है तथा अज्ञान के बाधित होने पर उसकी सत्ता ही नहीं सकेगी। वस्तुत: अहं तथा ज्ञान प्रकृत्या विरूद्ध स्वभाव वाले हैं अतएव इनके बीच किसी भी प्रकार का, और वह भी प्रकाशित व प्रकाश्य का सम्बन्ध शायद ही सम्भव होगा। अनुभूति, स्वयं अनुभूति नहीं रह जायेगी यदि इसे प्रकाशना हेतु अहं पर निर्भर कर दिया जाएगा। अहं (ego) में इस प्रकार का लक्षण प्रदान कर अद्वैत वेदान्ती, चार्वाक के भौतिकवादी दृष्टिकोण से स्वयं को किस प्रकार पृथक रख सकेंगे, यह अन्य प्रमुख प्रश्नगत समस्या है। अन्त:करण प्रकृत्या भौतिक है तथा ऐसी स्थिति में इसे ज्ञाता का स्वरूप प्रदान करना जड़ व चेतन मन के बीच के अन्तर को ही समाप्त करने जैसा है।

इन्हीं विभिन्न प्रश्नों के समाधानार्थ रामानुजाचार्य के दर्शन में ज्ञाता अहमर्थ को ही आत्मा के रूप में तथा ज्ञान को ज्ञाता (आत्मा) के अनिवार्य गुण के रूप में

स्वीकार किया गया है, अन्त:करण के नहीं। ज्ञाता चेतनतत्व है अतएव यह ज्ञान के गुण वाला स्वत:सिद्ध है। आत्मा को चेतन मात्र कहना तथा उसे ज्ञाता न स्वीकार करना स्वयमेव तार्किक विसंगति उत्पन्न करेगा। चेतना आत्मा का अनिवार्य धर्म है। आत्मा को उसके ज्ञातृत्व गुण से पृथक करना शून्य तार्किकता को प्रश्रय देना मात्र है। यही कारण है कि रामानुजाचार्य न तो अन्त:करण तथा न ही ज्ञान को ज्ञातृत्व के गुण वाला स्वीकार करते हैं। ज्ञान, आत्मा का अनिवार्य गुण है जो कि तार्किक ज्ञाता है। ज्ञान का शुद्ध चेतना के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि ज्ञान सदैव ज्ञाता-ज्ञेय सन्दर्भ में ही सम्भव है। परिणामस्वरूप ज्ञान को आत्मा के अनिवार्य गुणधर्म के रूप में स्वीकार न करना वैसा ही असंगत है जैसा कि यह कहना कि 'देवदत्त के पास दण्ड है', यह निर्णय वस्तुत: देवदत्त के विषय में न होकर केवल दण्ड के लिए है। मैक्टेगर्ट इस सम्बन्ध में कहते हैं कि यदि कोई गुण ज्ञाता के गुण के रूप में चिन्हित व व्याख्यायित नहीं किया जा सकता है तो वह गुण ही नहीं है। इस प्रकार ज्ञान नित्य आत्मा का नित्य गुण है।

आचार्य रामानुज का दर्शन वस्तुत: संश्लेषणात्मक स्वभाव का है तथा ऐसा होना उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि तथा तत्कालीन राजनैतिक व सामाजिक परिस्थितियों के कारण भी सम्भव है। ऐसी स्थिति में रामानुजाचार्य के दर्शन को प्रत्ययवादी वस्तुवाद (Idealistic Realism) की संज्ञा दी जानी चाहिए। कारण यह है कि आचार्य रामानुज की पृष्ठभूमि पर आधृत व उससे विकसित हुआ विशिष्टाद्वैत दर्शन न तो वस्तुवादी पृष्ठभूमि की सीमाओं के अन्तर्गत आता है तथा न ही प्रत्ययवादी आधारभूमि के, प्रत्युत् यह दोनों ही विचारधाराओं का संश्लेषण करता हुआ नवीन पृष्ठभूमि को जन्म देता है। इसे प्रत्ययवाद की संज्ञा इसलिए दी जानी चाहिए क्योंकि विशिष्टाद्वैत दर्शन में ज्ञान किसी मृत अथवा जड़वस्तु (अचेतन वस्तु) सम्बन्धी सिद्धान्त न होकर आत्मा से सम्बद्ध है। पुन: अन्य रूप में यह वस्तुवाद का भी समर्थन करता है क्योंकि यह विषय को ज्ञान प्राप्ति की भूमिका में अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार करता है। यहाँ वस्तु या ज्ञेय विषय मन की रचना या मन पर आधृत तत्व न होकर पूर्णतया स्वतन्त्र तत्व है जिसे ज्ञाता जानता है।

वस्तुवाद के साथ समस्या यह है कि यह ज्ञेय-विषय के सन्दर्भ में ज्ञाता को गौण बना देता है तथा इसका झुकाव प्रकृतिवाद (Naturalism) की ओर है। इसके विपरीत प्रत्ययवादी विचारधारा ज्ञेय-विषय को संरचना की विषय-वस्तु मानकर इसे ज्ञाता के सापेक्ष गौण बना देती है। जबकि रामानुजाचार्य कहते हैं

कि विषय, ज्ञाता में नहीं अपितु ज्ञाता के लिए है। उल्लेखनीय है कि ज्ञाता व ज्ञेय दो पृथक-पृथक सत्ताएँ हैं तथापि विशिष्टाद्वैत दर्शन द्वैतवाद का समर्थन नहीं करता है। ज्ञेय विषय को अपनी ज्ञातता के लिए ज्ञाता की तथा ज्ञाता को अपनी लाक्षणिक वैधता हेतु अथवा ज्ञातृत्व की सिद्धि हेतु 'जानी गयी वस्तु' की आवश्यकता है ही। यह दृष्टिकोण फेरियर (Ferrier) तथा जॉन पासमोर की याद दिलाता है जिनका दावा है कि 'जिसे जाना जा सकता है वह न तो शुद्ध वस्तु (Pure Object) है तथा न ही शुद्ध ज्ञाता' (Pure Being), प्रत्युत् 'ज्ञाता द्वारा ज्ञात विषय-वस्तु' ही है।[12] यद्यपि सत्तामीमांसीय दृष्टिकोण से ज्ञाता व ज्ञेय परस्पर पृथक हैं तथापि वे ज्ञान की स्थिति में परस्पर सम्बन्धित होते ही हैं तथा इन दोनों के बीच कोई द्वैत नहीं है क्योंकि ये दोनों ही एक समान रूप से अनन्त व निरपेक्ष तत्व के ही प्रकार हैं। आचार्य रामानुज इनको दो पृथक-पृथक सत्ता के रूप में प्रतिधारित तो करते हैं तथापि द्वैत को नहीं। उस अनन्त सत्ता के अंतर्गत इनमें विभेद तो किया जा सकता है परन्तु विभाजन नहीं। अतएव ये अवियोज्य हैं।

ज्ञाता व ज्ञेय की ज्ञान के सन्दर्भ में यह स्थिति हमें कहीं न कहीं Direct Realism की ओर ले जाती है। हालाँकि ऐसा अनिवार्य नहीं है कि ज्ञाता व ज्ञेय के सम्बन्ध को दर्शाने के लिए इनमें प्रकृत्या समानता दिखाई जाय। इस प्रकार का तादात्म्य स्थापित करने के क्रम में ही सांख्य निष्क्रिय पुरूष व सक्रिय प्रकृति के बीच बुद्धितत्व का तथा अद्वैत वेदान्त आत्मा व विषय के बीच तृतीय तत्व अन्त:करण का सहारा लेता है। यही नहीं, पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट भी आन्तरिक सम्प्रत्ययों तथा बाह्य प्रत्यक्षीकृत विषय के सम्बन्ध हेतु काल (Time) की इसी प्रकार परिकल्पना करते हैं तथा ये तीनों ही दर्शन अपनी ही ज्ञानमीमांसीय समस्याओं में उलझ जाते हैं। यही कारण है विशिष्टाद्वैत दर्शन ज्ञाता व ज्ञेय के सम्बन्ध को बाह्य न मानकर इनमें अपृथकसिद्ध सम्बन्ध स्वीकार करता है। इस प्रकार ये परस्पर ऐसे सम्बन्धित हैं कि इन्हें सत्तामीमांसीय दृष्टि से स्वतन्त्रता भी प्राप्त है तथा पारस्परिक सम्बन्ध की भी इससे कोई हानि नहीं है।[13]

आचार्य शंकर व ब्रैडले के दर्शन में ज्ञाता व ज्ञेय के सम्बन्ध की व्याख्या में अनवस्था दोष इसीलिए उपस्थित हो जाता है क्योंकि ये दोनों ही दार्शनिक ज्ञाता व ज्ञेय की प्रकृति को स्वयं में तथा 'सम्बन्ध' पद को व्याख्यायित करने में सर्वथा असफल रहे हैं। सम्बन्ध कोई वस्तु नहीं है जिससे कि यह प्रश्न समस्या उत्पन्न हो कि ज्ञाता व ज्ञेय को सम्बन्धित करने वाले सम्बन्ध की व्याख्या करने

के क्रम में अनवस्था दोष आयेगा। वस्तुत: यह प्रश्न दो पृथक वस्तुओं के सन्दर्भ में ही संगत है न कि स्वयं सम्बन्ध के सन्दर्भ में। उनके अनुसार सम्बन्धों की परम्परा हमें तार्किक रूप से अनवस्था दोष अथवा पश्चाद्गति की ओर ले जाती है। सम्बन्ध दो पदों का उपलक्षण है तथा इन दोनों पदों को सम्बन्धित करने के क्रम में सम्बन्ध सहित तीन पद हो जाते हैं तथा यदि उनके साथ परस्पर सम्बन्धों को व्याख्यायित करें तो अन्तविहीन अवस्था से हमें बँधना पड़ता है। वस्तुत: यथार्थ ज्ञान क्रियाशीलता का द्योतक है जिसकी आचार्य शंकर अवहेलना करते हैं। आचार्य रामानुज के अनुसार ऐसा नहीं है कि जहाँ सम्बन्ध है वहाँ एकत्व तथा एकत्व की स्थिति में सम्बन्ध की सम्भावना ही क्षीण हो जाती है। वस्तुत: ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से यह सम्पूर्ण जगत एक व्यवस्थित इकाई है तथा एक ही तत्व की विवरणात्मक विकासिता तथा अभिव्यक्ति है। वह एकतत्व तथा यह जगत दोनों एक दूसरे के कारण ही यथार्थ हैं। वह एकतत्व ही वस्तुत: यथार्थ सत्ता है तथा अन्य तत्व उसके अंश के रूप में हीनतर सत्ताएँ हैं। ज्ञान का तात्पर्य ऐसे ज्ञान से ही है जो स्वयं के अन्तर्गत आने वाले समस्त अवयवों तथा सम्बन्धों को तो द्योतित करे ही, साथ ही साथ उस तत्व को भी जिनके कारण इनकी सत्ता है। जीवनोपयोगी तत्व के रूप में ज्ञान का स्वरूप क्रियाशील होना ही है जो आभ्यन्तर रूप में अपना स्पष्ट व्यक्तित्व तो रखता ही है साथ ही साथ इस क्रिया में उस स्वतन्त्र सत्ता को भी स्थिर बनाए रखता है जिसके कारण उसका अस्तित्व है। C. D. Broad इस सन्दर्भ में स्पष्ट करते हैं कि सम्बन्ध सार्वभौमिक होता है अतएव उसके लिए ब्रैडले द्वारा एक विशिष्ट वस्तु की भाँति व्यवहार करना ही विरोधाभास को जन्म देता है।[14] W. E. Johnson के अनुसार वस्तुत: ब्रैडले के साथ समस्या यह थी कि वे *Tie* or *Relation* जैसे विशिष्ट पदों के बीच अन्तर नहीं करना चाहते हैं।[15]

अद्यतन प्रस्तुत समीक्षाओं के आधार पर हम यह निष्कर्ष प्राप्त करते हैं कि रामानुजाचार्य ने प्रत्ययवाद तथा वस्तुवाद, दोनों ही विचारधाराओं की सीमाओं को पदाक्रान्त कर तथा दोनों ही विचारधाराओं के सत्यों का बखूबी समायोजन कर कालक्रम में भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा में नवीन संश्लेषणात्मक समायोजन प्रस्तुत करने का कार्य किया है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. अस्ति तावत् सर्व सिद्धान्तिनाम्, इदमहं वह्मीति कर्मकर्तृघटितक्रियाविषेशावभास:। आचार्य वेदान्तदेशिक (1983): तत्त्वमुक्ताकलाप, सर्वार्थसिद्धिवृत्ति, बुद्धिसर प्रकरण, व्याख्याकार श्री शिव प्रसाद द्विवेदी, तत्त्वमुक्ताकलापसंघ, अयोध्या, फैजाबाद, पृ0 2 तथा आचार्य रामानुजकृत श्रीभाष्य, 2.2.29।

2. ज्ञानमेव च संयोगादिमत्तया द्रव्यम्। तदेवात्मन: प्रत्यक्तया निरूपितस्वरूपस्य विषेशकतया गुण:। आचार्य वेदान्तदेषिक (1996): न्यायसिद्धांजनम्, बुद्धिपरिच्छेद:, हिन्दी व्याख्याकार पं. श्रीनीलमेघाचार्य, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, पृ0 556।
3. वहीं, पृ0 554।
4. Radhakrishnan, S. (2008): *Indian Philosophy*, Vol. II, 2nd Edition, Oxford University Press, USA, p. 303.
5. Ibid., p. 303.
6. युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयो: विषयविषयिणो: तम:प्रकाशवत् विरुद्धस्वभावयो: इतरेतर भावानुपपत्तौ.....। आचार्य शंकर (2013): ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, सत्यानन्दी दीपिका, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1.1.1।
7. न चैतस्मिनसर्वमस्ति असंगस्यात्मन: प्रामतृत्वम् उपपद्यते। तस्मात् आत्मन: प्रमातृत्वादि व्यवहारार्थं अध्यासो अंगीकर्तव्य:। वहीं, 1.1.1।
8. Wallace, William (1892): *The Logic of Hegel*, 3rd Revised Edition, Oxford at Clarendon Press, London, p. 93.
9. संविद्-अनुभूति-ज्ञानादिशब्द: सम्बन्धिशब्दा इति च शब्दार्थविद:। न हि लोकवेदयोर्जानातीत्यादेरकर्मकस्य अकर्तृकस्य च प्रयोगो दृष्टचर:। आचार्य रामानुज (2009): श्रीभाष्य, प्रथम खण्ड, भाष्यकार आचार्य श्री शिव प्रसाद द्विवेदी, प्रथम संस्करण, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ. 165।
10. अथ अग्निसंपर्कात् अय: पिण्डौष्णवत् चित्संपर्कात् ज्ञातृत्वोपलब्धि: नैतत्। वहीं, 1.1.1, पृ. 170।
11. भान्ताकर इवाऽदित्यमहंकारो जडात्मक:। स्वयं ज्योतिष्मात्मानं व्यनक्तीति न युक्तिमत्।। वहीं, 1.1.1, पृ. 171।
12. The least that can be known is neither a pure object nor a pure subject but a subject knowing-an-object. Passmorre, John (1978): *A Hundred Years of Philosophy*, Penguin Books Ltd., Harmondsworth, Middlesex, England, p. 51.
13. Relatedness and Independence are perfectly compatible. Ibid., P. 231.
14. Broad, C. D. (1933): *An Examination of MC Taggart's Philosophy*, Vol. 1, Cambridge University Press, London, p. 84.
15. Johnson, William Ernest (1921): *Logic*, part I, Cambridge University Press, London, p. 212.

सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग
जगत तारन गर्ल्स डिग्री कॉलेज
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
E-mail-anurag87.au@gmail.com

जनसंख्या भूगोल में जनांकिकीय की अवधारणा : एक विमर्श

- आशीष कुमार शुक्ला

मानव को पृथ्वी के विभिन्न क्षेत्र में रहने वाले लोगों के संख्या के विषय में ज्ञानार्जन की जिज्ञासा प्राचीन काल से रही परन्तु विज्ञान के रूप में जनसंख्या विषय का अध्ययन आधुनिक काल से शुरू हुआ। प्राचीन काल से लेकर मध्य काल तक जनसंख्या का अध्ययन प्रशासनिक, सैनिक, आर्थिक राजनैतिक उद्देश्यों से होता था, जो कि व्यक्तिगत अनुभव एवं अनुमानों पर आधारित था। विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में जनसंख्या का अध्ययन पृथक-पृथक दृष्टिकोण एवं विधियों से किया जाता है। जनसंख्या के ऐतिहासिक एवं क्षेत्रीय वितरण का अध्ययन भूगोल में विशेष रूप से किया जाता है। भूगोल जो कि एक क्षेत्र वर्णनी विज्ञान है में जनसंख्या के विभिन्न लक्षणों का अध्ययन क्षेत्र विश्लेषण के आधार पर किया जाता है।

पूर्वकाल में भूगोल को मुख्यत: भौतिक विज्ञान के रूप में अधिक मान्यता प्राप्त थी। इसमें मानव की जगह पर भू-क्षेत्र के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता था। भौतिक एवं मानवीय तथ्यों की प्रमुखता के आधार पर भूगोल को परम्परागत रूप से दो भागों में विभक्त किया जाता है।

मानव भूगोल में मानव एवं उसके पर्यावरण के मध्य अन्तर्सम्बन्धों का तथा उससे उत्पन्न क्षेत्रीय प्रतिरूपों का अध्ययन किया जाता है, जिसमें जनसंख्या सहित अन्य सांस्कृतिक तथ्यों का अध्ययन भी समाहित होता है। जनसंख्या भूगोल में मानव को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। जिसमें मानवीय जनसंख्या एवं उससे सम्बन्धित समस्याओं का व्यापकता के साथ सार्थक अध्ययन मुख्य विषय बन गया है। जनसंख्या भूगोल की मुख्य शाखा के रूप में 1960 के दशक से भूगोल के पटल पर परिलक्षित हुआ।

जी. टी. टीवार्था- ''जनसंख्या भूगोल का मूल तत्व जनसंख्या द्वारा आच्छादित पृथ्वी के प्रादेशिक भिन्नता को समझने में निहित है।''[1]

जॉन.आई. कार्लक- ''जनसंख्या भूगोल यह प्रदर्शित करता है कि जनसंख्या के वितरण, संघटन, प्रवास एवं वृद्धि में पायी जाने वाली क्षेत्रीय विभिन्नताएँ स्थानों की प्रकृति में पायी जाने वाली क्षेत्रीय विभिन्नताओं से किस प्रकार सम्बन्धित है।[2]

विलवर जेलन्सकी के अनुसार- जनसंख्या भूगोल वह विज्ञान है जो उन विधियों की व्याख्या करता है। जिसमें स्थलों की भौगोलिक प्रकृति निर्मित होती है। और इसके प्रतिक्रिया स्वरूप जनसंख्या तत्वों का एक समूह उत्पन्न होता है जो क्षेत्र और समय दोनों के संदर्भ में परिवर्तनशील होता है क्योंकि वे तत्व परस्पर तथा अनेक जनांकिकीय तत्वों के प्रति अन्तर्क्रिया करते हुए अपने व्यावहारिक नियमों का अनुसरण करते हैं।[3]

पृथ्वी पर आधुनिक मानव की लगभग 15,00,000 वर्ष पूर्व अन्तर हिम युग काल में प्रकट हुआ। इसके उद्भव के विषय में कुछ भी निश्चित तौर से नहीं कहा जा सकता है। परन्तु ऐसा अनुमान है कि मानव का उद्भव सर्वप्रथम अफ्रीका महाद्वीप में हुआ। यही से वह विभिन्न महाद्वीपों तक फैला तथा प्रारम्भिक मानव आखेटक एवं खाद्य संग्राहक था। उस समय पृथ्वी पर जनसंख्या बहुत ही कम थी। ट्रिवार्थी के अनुसार- प्लीस्टोसीन युग में विश्व की जनसंख्या का घनत्व 3 व्यक्ति प्रति 100 वर्ग मील (अर्थात् 3 व्यक्ति प्रति 250 वर्ग किमी०) था।[4]

उस समय मानव छोटे-छोटे समूह में रहता था। एक समूह में छः व्यक्ति सम्मिलित थे। वर्तमान में लगभग 8-12 हजार वर्ष पूर्व कृषि क्रान्ति आई. जिसमें मानव ने खेती करना एवं पशुओं का पालन सीख लेता है। इस प्रकार खाद्यानों का आवश्यकता से अधिक उत्पादन होने लगा और खाद्यानों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने के लिए परिवहन की आवश्यकता महसूस हुई। खाद्यानों से अधिक उत्पादन ने

---

1 चान्दना, आर. सी. जनसंख्या भूगोल, कल्याणी पब्लिशर्स नई दिल्ली 1994, पृ. 24

2 मौर्या एस.डी. जनसंख्या भूगोल, शारदा पुस्तक भवन, पृ. 3-6

3 Beauieu Garnier-Geography Population Longman 1978, P.78

4 Barclay G.M. Techique of Population Analysis John Wiley & Sons, New York, 1958, p.26.

मानव के मन से सुरक्षा का भाव उत्पन्न किया और मानव बस्तियों में रहने लगा, इन्हीं कारणों से जनसंख्या में पहले की अपेक्षा ज्यादा वृद्धि होने लगी परन्तु उस समय उद्योगों के अभाव के कारण नगरों में जनसंख्या का केन्द्रण अधिक नहीं था और नगरीय जीवन भी कृषि पर ही आधारित था।

1650 ई. के समय तक विश्व जनसंख्या 13 से 30 करोड़ थी। नगरीय कस्बा की प्रक्रिया के कारण जनसंख्या में तीव्र वृद्धि शुरू हो गई। साथ ही उद्योग की स्थापना ने इस प्रक्रिया को ओर तेज कर दिया। 16वीं एवं 17वीं सदी में व्यापार में वृद्धि के कारण जनसंख्या वृद्धि औद्योगीकरण के युग में प्रवेश करती हैं, जिससे जनसंख्या विस्फोट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।[1]

आधुनिक समय में सामाजिक विज्ञान की भाँति जनसंख्या भूगोल में भी मात्रात्मक क्रांति का असर पड़ा है। इस विषय में विश्वसनीय एवं उचित आंकड़ों का संग्रहण आसान होता है। परन्तु यदि अध्ययन क्षेत्र छोटा है तो उसकी जनसंख्या के विषय में जानकारी के लिए प्राथमिक आंकड़ा संग्रहण विधियों का प्रयोग किया जाता है। जनसंख्या संग्रहण की विधियों में प्राथमिक एवं द्वितीय स्रोत होते हैं। प्राथमिक आंकड़ों का संग्रहण प्रत्यक्ष सर्वेक्षण, परोक्ष सर्वेक्षण, अनुसूची प्रश्नावली, स्थानीय प्रतिवेदन, नमूना सर्वेक्षण द्वितीय स्रोत में जनगणना रिपोर्ट पंजीयन राष्ट्रीय नमूना, सर्वेक्षण, अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन आदि के माध्यम से जनंसख्या के आंकड़ों का संग्रहण किया जाता है।

पृथ्वीतल पर जनसंख्या का वितरण आदि काल से वर्तमान काल तक परिवर्तनशील रहा है। किसी क्षेत्र में सघन जनसंख्या तो किसी क्षेत्र में कम जनंसख्या तो अन्य क्षेत्र निर्जन है। एक अनुमान के अनुसार सम्पूर्ण पृथ्वी के 10% भाग पर 90% जनसंख्या निवास करती हैं। पृथ्वी के किस क्षेत्र में कितनी जनसंख्या पायी जाती है इसका विवरण जनसंख्या के वितरण एवं विश्लेषण तथा घनत्व द्वारा व्यक्त होता है। घनत्व उस क्षेत्र के कुल क्षेत्रफल एवं मनुष्यों की संख्या के अनुपात द्वारा व्यक्त किया

1 Demko G.S. et al. Poputation Geography a Reader McGraw Hill, New York 1970 P.78

जाता है।[1]

जनसंख्या के वितरण एवं घनत्व को दो कारक प्रभावित करते हैं-

1. प्राकृतिक कारक
2. मानवीय कारक

प्राकृतिक कारक में जनसंख्या वितरण एवं घनत्व को उस क्षेत्र की जलवायु भूमि विन्यास क्षेत्र की मिट्टी का प्रकार खनिज पदार्थ की उपलब्धता, जलाशय की उपलब्धता स्थिति एवं अभिगम्यता यह ऐसा कारक है, जो निर्जन क्षेत्र में भी जनसंख्या के बसाव को प्रभावित करता है यदि क्षेत्र तक पहुँच के लिए ढांचागत विकास सही तरीके से हुआ है तो वहाँ पर आवागमन के साधन सही है तो व्यक्तियों के उस क्षेत्र में निवास की संम्भावना बढ़ जाती है।

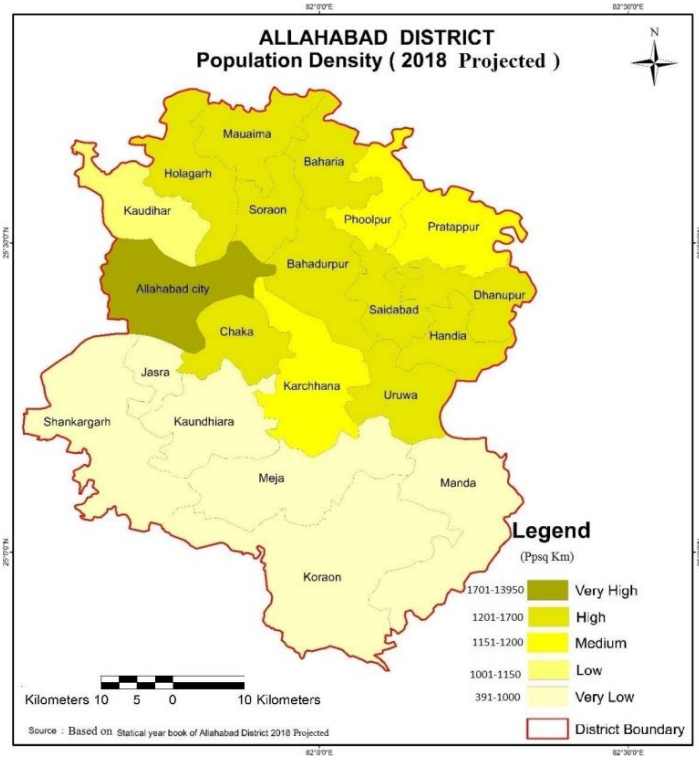

1 Gupta Sumitra Social Welfare In India, Chugh Publication Allahabad, 1988. P.77

मानवीय कारकों में जनसंख्या के बसाव में प्रमुख कारक आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक राजनीतिक जनांकिकीय कारक प्रमुख हैं।

किसी भी क्षेत्र में जनसंख्या परिवर्तन का अर्थ है कि एक निश्चित अवधि में किसी क्षेत्र विशेष में रहने वाले लोगों की संख्या में होने वाले परिवर्तन हैं। यह परिवर्तन धनात्मक या ऋणात्मक हो सकती है। इसकी गणना प्रारम्भिक वर्ष की जनंसख्या को अन्तिम वर्ष की जनसंख्या से घटाकर प्राप्त किया जाता है। परिवर्तन कई प्रकार के होते हैं। निरपेक्ष परिवर्तन इसके अन्तर्गत किसी विशेष क्षेत्र या प्रदेश में रहने वाले व्यक्तियों की पूर्ववर्ती संख्या को उसी क्षेत्र के व्यक्तियों की परवर्ती संख्या से घटाकर प्राप्त की जाती है। सापेक्ष परिवर्तन के अन्तर्गत प्रारम्भिक वर्ष की जनसंख्या को आधार पर माना जाता है। नियत अवधि में अन्तिम वर्ष और प्रारम्भिक वर्ष की जनसंख्याओं के अन्तर को प्रारम्भिक वर्ष की जनसंख्या से विभाजित किया जाता है और पुन: उसे 100 से गुणा किया जाता है। इस प्रकार सापेक्ष जनसंख्या प्राप्त होती है। जनसंख्या में हो रहे परिवर्तन कई प्रकार से होते हैं। जैसे- अंकगणितीय परिवर्तन इसकी गणना के लिए दो क्रमिक जनगणना वर्षों की जनसंख्या के योग के आधा से वार्षिक परिवर्तन की मात्रा को विभाजित करके उससे 100 से गुणा किया जाता है।[1]

गुणोत्तर परिवर्तन के अन्तर्गत की गई गणना के लिए यह मान लिया जाता है कि जनसंख्या परिवर्तन की दर प्रतिवर्ष (या अन्य समय अन्तराल) समान रहती है अर्थात् जनसंख्या की वृद्धि या ह्रास की दर नियत अवधि में प्रति वर्ष समान होती है। इस प्रकार एक नियत समयावधि में जनसंख्या की गुणोत्तर या ज्यामितीय परिवर्तन चक्रवृद्धि परिवर्तन को प्रकट करता है।

चरघातांकी परिवर्तन इसकी गणना के लिए यह कल्पना की जाती है कि परिवर्तन की दर सतत रूप् से क्रियाशील रहती है। यह चक्रवृद्धि परिवर्तन का ही परिवर्तित रूप है, जिसमें कलावधि नियत के स्थान पर अत्यन्त दीर्घ अथवा अनन्त हो जाती है। जब चक्रवृद्धि की गणना अपरिमित समयावधि के अतिलघु अन्तराल के अनुसार की जाती है, उसे चरघातांकी परिवर्तन कहते हैं।

---

1 CUNSUS 2011

जनंसख्या में वृद्धि सामान्यत: दो प्रकार की होती है-

1. प्राकृतिक वृद्धि

2. वास्तविक वृद्धि

प्राकृतिक वृद्धि के अन्तर्गत किसी क्षेत्र की कुल जनसंख्या में एक नियत समयावधि के पश्चात कुल जन्मों और कुल मृत्युओं के कारण आने वाले अन्तर को प्राकृतिक या नैसर्गिक वृद्धि माना जाता है।

वास्तविक वृद्धि के अन्तर्गत एक निश्चत समयावधि में अन्तिम वर्ष की कुल जनसंख्या और प्रारम्भिक वर्ष की कुल जनसंख्या में अन्तर को प्रारम्भिक वर्ष की कुल जनसंख्या से विभाजित करके उसमें 100 से गुणा किया जाता है। इस प्रकार जनसंख्या की वास्तविक वृद्धि दर प्राप्त होती है।

प्रजननता का वास्तविक अर्थ एक नियत समयावधि में किसी स्त्री या समूह द्वारा प्रदत्त सजीव जन्मों की वास्तविक संख्या से है। उर्वरता की माप नियत समयावधि में जन्मे सजीव शिशुओं की आवृत्ति या शिशुओं की संख्या से की जाती है। प्रजननता के मापन के लिए आंकड़ों की उपलब्धता उद्देश्य तथा प्रयुक्त तकनीक के अनुसार प्रजननता के माप के लिए कई प्रकार के सूचकांकों का प्रयोग किया जाता है।

- अशोधित जन्म दर
- प्रजनन अनुपात
- सामान्य प्रजनन दर
- आयु विशिष्ट जन्म दर
- कुल प्रजनन दर
- मानक जन्म दर
- पुनरुत्पादन दर

भूतल पर जन्म लेने वाले समस्त जीवों की मृत्यु निश्चित है। इसमें मानव कोई अपवाद नहीं है। इसकी एक निश्चित प्रवृत्ति पायी जाती है। किसी निश्चित क्षेत्र एवं समयावधि में मृत्युओं या मृतकों की संख्या को मर्त्यता कहा जाता है। यह जनसंख्या परिवर्तन या प्रमुख घटक है, जो प्रजननता की अपेक्षा अधिक स्थिर तथा निश्चित एवं कम विचलनशील

होता है। संयुक्त राष्ट्र संघ की परिभाषा (1953) के अनुसार जन्म के पश्चात किसी भी समय पर हमेशा के लिए जीवन प्रतीक का समापन मर्त्यता कहलाती है।

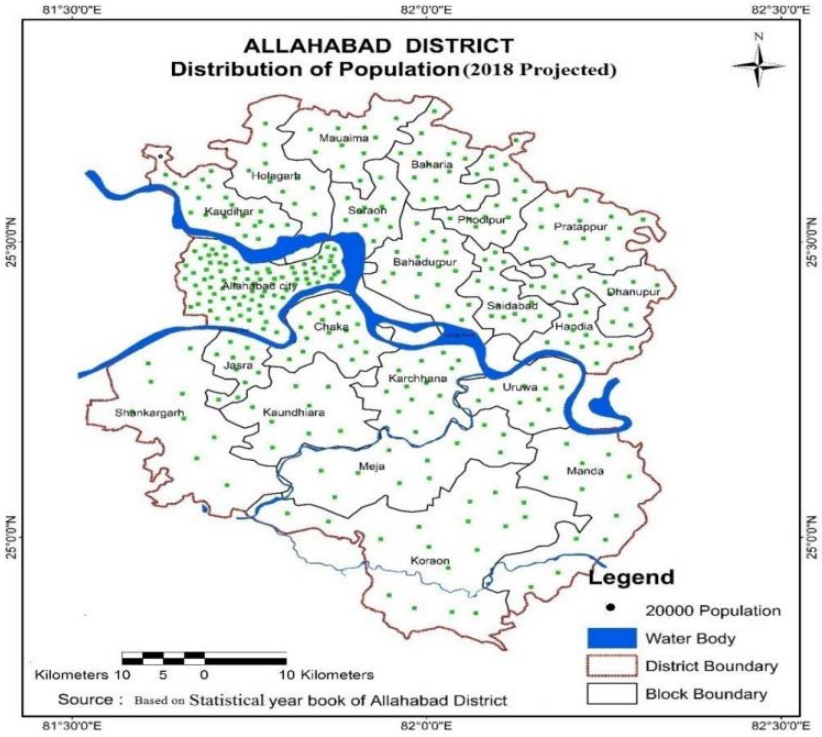

मर्त्यता जनसंख्या वृद्धि का एक आवश्यक घटक होने के कारण इसका मापन महत्वपूर्ण हो गया है। इसके लिए कई प्रकार के सूचकांकों का प्रयोग किया जाता है-

- अशोधित मृत्यु दर
- शिशु मृत्यु दर
- मातृ मृत्यु दर
- आयु विशिष्ट मृत्यु दर
- जीवन सारणी
- कारण विशिष्ट मृत्यु दर सबसे अधिक प्रचलित मापक सूचकांक अशोधित मृत्यु दर है।

किसी क्षेत्र की जनंसख्या के परिवर्तन के तीन प्रमुख कारक होते है। जन्म, मृत्यु एवं प्रवास किसी क्षेत्र की जनसंख्या में वृद्धि मूल रूप से दो कारकों पर निर्भर करता है।

1. जन्मों में वृद्धि
2. जनसंख्या का अन्य स्थानों पर स्थानान्तरण से इस प्रकार किसी स्थान या क्षेत्र में व्यक्तियों के आगमन अथवा वहाँ से मनुष्यों के बहिर्गमन को ही प्रवास या प्रव्रजन कहते हैं। इसे देशान्तरण या स्थानान्तरण की भी संज्ञा दी जा सकती है। वाग (1959)

प्रवास सांस्कृतिक वितरण तथा सामाजिक एकता का उपकरण है। गोसल (1961)। जनसंख्या प्रवास मात्र स्थान परितर्वन ही नहीं बल्कि किसी प्रदेश के क्षेत्रीय तत्व और सम्बन्धों को समझने के लिए प्रमुख आधार भी हैं। प्रवास दो रूपों में होता है। उत्प्रवास एवं आप्रवास जिस स्थान को लोग छोड़कर अन्य स्थान कर चले जाते हैं। उसके संदर्भ में इस स्थानान्तरण को उत्प्रवास या बाह्य प्रवास और स्थानान्तरित होने वाले मनुष्यों को उत्प्रवासी कहते हैं। अन्य स्थानों से आकर जिस स्थान पर मनुष्य बस जाते हैं। उसके संदर्भ में स्थानान्तरण को आप्रवास या आव्रजन और इसमें भाग लेने वालों को आप्रवासी कहते हैं।

इस प्रकार उपरोक्तर विश्लेंषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जनसंख्यार भूगोल के अन्तंर्गत जनांकिकीय की अवधारणा वह विधा है जिसमें किसी भी क्षेत्र का जल घनत्व , जन्मक दर, मृत्युि दरस्त्रीन, पुरुष, शिशु के लैंगिक अनुपात का अध्ययन किया जाता है जो कि उनके विकास तथा स्वादस्य्िधा सुविधाओं के उचित प्रबन्ध न के लिए आवश्य क है।

शोध-छात्र (एस.आर.एफ.)
भूगोल विभाग
नेहरु ग्राम भारती मानित विश्वरविद्यालय, प्रयागराज

कुम्भ मेला प्रयागराज 2025 के अपशिष्ट प्रबन्धन में सरकार एवं नगर निगम की भूमिका

अनुग्रह पाठक, *शोध-छात्र*

डॉ. एस. के. भारती

सारांश

भारतीय सनातन परम्परा एवं संस्कृति में त्यौहार, उत्सव एवं मेले का विशिष्ट स्थान रहा है। ये परम्पराएं ही किसी भी देश की सांस्कृतिक विरासत को सजोने का कार्य करती है। प्रयागराज उत्तर प्रदेश राज्य का एक जिला है। यहाँ पर स्थित गंगा, यमुना एवं अदृश्य सरस्वती का अनुपम संगम है। यहाँ पर प्रत्येक वर्ष माघ मेले का आयोजन होता है तथा छः वर्ष में अर्द्ध कुम्भ एवं बारह वर्ष में महा कुम्भ का आयोजन होता है। भारतवर्ष तथा देश-विदेश के श्रद्धालु यहाँ स्नान करने तथा पर्यटक के रूप में लाखों की संख्या में आते हैं। यहाँ पर 2025 में महाकुम्भ का आयोजन किया गया जिसमें करोड़ों की संख्या में श्रद्धालु आये और अपनी आध्यात्मिक पिपासा की शान्ति प्राप्त किया।[i] पर्यावरण की दृष्टि से मेले का एक दूसरा पक्ष भी सामने आता है कि जो श्रद्धालु आए वे किस मात्रा तक ऐसे पदार्थों वस्तुओं का उपयोग किया जिनसे अपशिष्ट पदार्थों में वृद्धि हुई और उनके प्रबंधन के लिए सरकार किन-किन योजनाओं को लागू किया और मेला प्रशासन द्वारा उन पर कितना पहल किया गया इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देने का इस लेख में प्रयास किया गया है साथ ही भविष्य के लिए हमें क्या सीख मिली इत्यादि प्रसंगों का भौगोलिक एवं तार्किक अध्ययन इस शोध-पत्र के अंतर्गत करने का प्रयास किया गया है। विशेषत: सरकार एवं नगर निगमन की भूमिका को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।[ii]

कुंजी शब्द- कुम्भ, मेला, अपशिष्ट, पर्यावरणीय, प्रबंधन, दूरगामी, जलीय प्रदूषण, मेला प्राधिकरण, भौगोलिक, मानव निवास, जल-प्रदूषण, जलीय जीव, संगम, श्रद्धालु, आध्यात्मिक।

कुम्भ मेला प्रयागराज 2025 कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण रहा है। यह मेला अमृत

स्नान के संदर्भ में एक आध्यात्मिक आदर्श एवं आस्था का प्रतीक रहा है, वहीं पर्यटन की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण रहा है। देश-विदेश से करोड़ों की संख्या में श्रद्धालु एवं पर्यटकों का आगमन हुआ। कुछ घटनाओं को छोड़कर मेला का समापन शान्तिपूर्ण तरीके से संपन्न हुआ। इसके लिए मेला प्रशासन ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्वयं सेवी संगठन एवं सामाजिक कार्यकर्ताओं ने भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि कुम्भ मेला प्रयागराज 2025 में अपशिष्ट प्रबन्धन के संदर्भ में यदि विचार किया जाय तो कई बिन्दुओं पर अध्ययन एवं विश्लेषण की आवश्यकता है। प्रयागराज महाकुम्भ 2025 में अपशिष्ट प्रबंधन के लिए सरकार और नगर निगम द्वारा कई उपाय किए गए हैं। इन उपायों में प्लास्टिक के उपयोग को कम करना पर्यावरण अनुकूल शौचालय और अपशिष्ट उपचार विधियों का उपयोग शामिल हैं।[iii]

प्रयाग कुम्भ 2025 में अपशिष्ट प्रबन्धन हेतु सरकार द्वारा संचालित संस्था मेला विकास प्राधिकरण एवं नगर निगम के द्वारा निम्नलिखित कदम उठाए गए हैं-

प्लास्टिक कचरा प्रबंधन : प्रयागराज कुम्भ 2025 के लिए प्लास्टिक कचरा प्रबंधन पर विशेष जोर दिया गया इसके लिए सरकार द्वारा मेले में एकत्र किए गए कचरे को अल्ट्राटेक की इकाई में वैकल्पिक ईंधन के रूप में संसाथित किया गया। इस प्रबंधन के तहत मेले में उपयोग किये गए प्लास्टिक कचरे को संग्रहीत करके उसे शोधन पद्धति के माध्यम से पुन: उपयोग की जाने वाली वस्तु का निर्माण किया जाएगा। कुम्भ मेले में उत्पन्न कचरा को प्रभावी ढंग से प्रबंधित करने के लिए सरकार द्वारा कचरा संग्रहण और निपटान के लिए 20,000 से अधिक कचरा डिब्बे और 37.75 लाख लाइनर बैग उपलब्ध कराए गए।

तकनीकी सहायता : प्रयागराज कुम्भ मेला सुचारू रूप से सम्पन्न हो इसके लिए इसरो के द्वारा उपग्रह निगरानी और अपशिष्ट उपचार विधियों जैसी नई तकनीकों का उपयोग किए गया।[iv]

सामुदायिक भागीदारी : स्वच्छता और अपशिष्ट प्रबंधन में सामुदायिक भागीदारी अत्यन्त महत्वपूर्ण रही। अनेक स्वयं सहायता प्राप्त समूह, विश्वविद्यालय के एन०एस०एस० तथा स्थानीय लोगों ने बढ़-चढ़ कर सहायता एवं अपशिष्ट प्रबंधन में भागीदारी निभायी।

हरित पहले : प्लास्टिक का उपयोग सबसे कम करने के लिए प्रशासन ने प्लास्टिक की थैलियों बोतलों पर बैन लगा दिया। भोजन व पेय पदार्थों को मिट्टी के वर्तनों और गैर प्लास्टिक थैलियों का उपयोग किया गया। स्वच्छता कर्मचारियों

की अतिरिक्त टीमें तैनात की गयी जो सार्वजनिक शौचालयों और अन्य क्षेत्रों की नियमित सफाई को देखा। कीटाणुनाशकों का नियमित छिड़काव व फॉगिंग की गयी।[v]

नगर निगम की अनोखी पहल : प्रयागराज कुम्भ 2025 के आलोक में नगर निगम द्वारा अभूतपूर्व तरीके से अपशिष्ट प्रबंधन के विशिष्ट उपाय किए गए।

सरकार द्वारा मेला विकास प्राधिकरण को पर्याप्त सहयोग : मेला के अपशिष्ट प्रबंधन हेतु सरकार द्वारा मेला विकास प्राधिकरण को पर्याप्त मात्रा में धन दिया गया ताकि किसी प्रकार की कोई कमी न हो। देश के प्रधान मंत्री एवं राज्य के मुख्यमंत्री द्वारा विशेष सहायता प्रदान की गई। आदरणी मुख्यमंत्री श्री योगी आदित्य नाथ मेला की समायावधि के समय कई बार मेला की तैयारियों का औचक निरक्षण किया एवं आवश्यकता पड़ने पर तुरंत व्यवस्था का निरीक्षण एवं चुस्त-दुरूस्त प्रशासन के लिए अधिकारियों को निर्देशित करते रहे। उनका यह प्रयास मेला के सर्वांगीण सफलता के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है।

कुम्भ मेला 2025 को सुचारू ढंग से सम्पन्न होने के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने 2 दिसंबर 2024 को महाकुम्भ क्षेत्र को नया जिला घोषित कर दिया।[vi] सरकार मेले के अपशिष्ट प्रबंधन हेतु कई महत्वपूर्ण कदम उठाए, इनमें स्वच्छता कर्मचारियों की भूमिका, प्लास्टिक मुक्त पहल मियावाकी वनों का विकास और सामुदायिक भागीदारी शामिल है। इन पहलों का उद्देश्य एक स्वच्छ व टिकाऊ महाकुम्भ सुनिश्चित करना इसका प्रमुख उद्देश्य रहा। मेले में अपशिष्ट प्रबंधन हेतु सरकार ने 1500 से अधिक सफाई कर्मचारियों और 2000 'गंगा सेवा दूतों' को प्रशिक्षित किया, जिन्होंने कुम्भ क्षेत्र को स्वच्छ रखने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। महाकुंभ को प्लास्टिक मुक्त बनाने के लिए सरकार ने कई पहले की जैसे प्लास्टिक के उपयोग को कम करना और इसके विकल्प प्रदान करना। सरकार ने मियावाकी तकनीकी का उपयोग करके प्रयागराज में जंगल विकसित किए, जिससे वायु गुणवत्ता में सुधार हुआ और हरित आवरण की बढ़ोत्तरी हुई। सरकार ने समुदायों को महाकुंभ के दौरान स्वच्छता और पर्यावरण संरक्षण में शामिल किया जिससे एक सामुदायिक भागीदारी की भावना का विकास हुआ। सरकार अपशिष्ट प्रबंधन के लिए स्मार्ट शौचालय, अपशिष्ट पृथक्करण और पुनर्चक्रण जैसी तकनीकी प्रगति का उपयोग किया। इसके साथ ही पर्यावरण अनुकूलन प्रथाओं को बढ़ावा देने का कार्य किया तथा मेले की सुरक्षा एवं व्यवस्था हेतु विशिष्ट उपाय किये जिसमें भीड़ प्रबंधन आपातकालीन प्रतिक्रिया उन्नत तकनीकी का उपयोग इत्यादि महत्वपूर्ण है।[vii]

प्रयाग कुम्भ मेला 2025 में नगर निगम भी अपशिष्ट प्रबंधन के संदर्भ में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। नगर-निगम महाकुम्भ के दौरान स्वच्छता और अपशिष्ट प्रबंधन की जिम्मेदारी अत्यन्त संवेदनशील तरीके से निभायी। नगर-निगम द्वारा कचरा संग्रहण और परिवहन व्यवस्था के लिए विशेष व्यवस्था की गयी। इसके साथ ही ठोस अपशिष्ट प्रबंधन के अंतर्गत कचरे को वैज्ञानिक तरीके से संसोधित पुनर्चक्रण, खाद बनाना और ऊर्जा के रूप में परिवर्तित करना एक महत्वपूर्ण उपलब्धि रहा है। स्वच्छता को ध्यान में रखते हुए नगर-निगम पर्याप्त संख्या में शौचालयों एवं मूत्रालयों की व्यवस्था किया। जन जागरूकता, विशेष स्वच्छता दल, स्वच्छता रथ यात्रा इत्यादि पहलों के द्वारा प्रयागराज नगर-निगम ने मेले के अपशिष्ट प्रबंधन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।[viii]

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कुम्भ मेला प्रयागराज 2025 के अपशिष्ट प्रबंधन में सरकार एवं नगर-निगम की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

सन्दवर्भ

i दैनिक जागरण 24 जनवरी 2025 "महाकुम्भ पर विशेष"

ii महाकुम्भ 2025 : अपशिष्ट प्रबंधन की चुनौती एनयूएस दक्षिण एशियाई अध्ययन संस्थान, 1 मार्च 2025

iii पवित्र और बेदाग महाकुम्भ 2025 में स्वच्छता पहल "संस्कृति मंत्रालय", 24 जनवरी 2025 शाम 6 बजे की प्रस्तुति

iv महाकुम्भ 2025 : अत्याधुनिक तकनीकी और प्राचीन अनुष्ठानों का संगम, हिन्दुस्तान 28 जनवरी 2025

v The Hindu, 3 March 2025

vi The Hindu, 3 Dec. 2025

vii हिन्दुस्तान, न्यूज पेपर, 5 मार्च 2025

viii दैनिक जागरण, न्यूज पेपर, 13 मार्च 2025

आचाराङ्ग सूत्रः दार्शनिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक महत्त्व

- उज्जवल डागा

प्रो. सामणी संगीत प्रज्ञा

सार[1] [2]

यह शोध-पत्र जैन द्वादशाङ्गी आगम के प्रथम अंग आचाराङ्ग सूत्र का बहुआयामी आकलन प्रस्तुत करता है। ग्रंथ-रचना, पाठ-इतिहास, "श्रुत-पुरुष" रूपक, तथा अर्द्धमागधी सूत्र-वाक्यों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि आचाराङ्ग अहिंसा-प्रधान जैन नैतिकता का आदि-स्रोत एवं मुनि-आचार का मूलाधार है। साथ ही प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्याय-वार विषय-सार एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध की अनुशासनात्मक विशेषताएँ संक्षेप में दी गयी हैं। अंतिम भाग में परम्परागत व आधुनिक टीका-परम्परा का मूल्यांकन किया गया है। अंततः पंचाचार की दार्शनिक पृष्ठभूमि को समन्वित कर आधुनिक सन्दर्भ में न्यायोचित किया गया है। निष्कर्षतः प्रदर्शित होता है कि आत्म-निग्रह, ब्रह्मचर्य एवं करुणा-मूलक व्यवहार आज भी विश्व-समाज के लिये दिशासूचक सिद्धान्त हैं।

मुख्य शब्द : आचाराङ्ग, अहिंसा, आत्म-निग्रह, ब्रह्मचर्य, टीका-परम्परा, जैन दर्शन

1. परिचय

आचाराङ्ग सूत्र जैन गणिपिटक के बारह अंगों में प्रथम है। भद्रबाहु निर्यूक्तिकार ने इसे "अङ्गाणं अग्गं" और "प्रवचन-सार" कहा[3]। "श्रुत-पुरुष"

---

1 आचार्य भद्रबाहु, आचाराङ्ग निर्यूक्ति।

2 युवाचार्य मधुकर मुनि, आचाराङ्ग सूत्र (हिन्दी टीका)।

3 आचार्य महाप्रज्ञ, आचाराङ्ग-भाष्य।

प्रतीक-चित्र में यहदायाँ चरण है, जबकि सूत्रकृताङ्ग बायाँ-दोनों पर समस्त आगम आधारित है[1]।

इतिहास-पूर्व विदेह प्रदेश का सांस्कृतिक परिदृश्य भी इस ग्रन्थ की पृष्ठभूमि को समृद्ध करता है-जहाँ वैशाली, मिथिला और चम्पा जैसे गणतन्त्री नगर गहन दार्शनिक चर्चाओं के केन्द्र थे। आचाराङ्ग की भाषा-प्रकृति इन नगरों की बहुभाषिक दृष्टि को अभिव्यक्त करती है। आर्चियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया के नवीनतम उत्खनन (2023) में मिले ताम्रपट्टों पर आचाराङ्ग सूत्र-निबन्धित अंश इसके प्रसार का भौतिक प्रमाण देते हैं, जो दर्शाते हैं कि चौथी-शती ई.पू. तक यह पूरे मगध-अवध क्षेत्र में विहार-वाटन का आधार बन चुका था।[2]

आधुनिक शोधार्थी इसे अहिंसा-नैतिकता, आत्म-निग्रह तथा पर्यावरण-करुणा का प्राचीनतम लेखबद्ध सूत्र-संग्रह मानते हैं। इस शोधपत्र का उद्देश्य ग्रन्थ के दार्शनिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक आयामों का समेकित मूल्यांकन करना है, ताकि इसके मूल तत्त्व समसामयिक पाठकवर्ग हेतु सुलभ एवं उपयोगी सिद्ध हों।

2. द्वादशाङ्गी परंपरा में आचाराङ्ग का पद

तीर्थंकर सर्वप्रथम आचाराङ्ग का उपदेश करते हैं; शेष अंग इसके बाद[3]। यह अङ्ग-प्रविष्ट श्रुत है; बाह्य ग्रन्थ अंग-बाह्य कहलाते हैं।

2.1 ग्रंथ-संरचना

श्रुतस्कन्ध	उप-विभाग	वर्तमान स्थिति	प्रधान विषय
प्रथम (“नव ब्रह्मचर्य”)	9 → 8 अध्याय	आत्म-निग्रह, संयम, अहिंसा	मनोगतिक विनय
द्वितीय (“आचाराङ्ग”)	5 → 4 चूलिका	*निशीथ चूलिका* लुप्त	मुनि-आचार विस्तार

भद्रबाहु के अनुसार मूल नव -ब्रह्मचर्य में 18 हज़ार श्लोक थे, पश्चात् चूलिकाएँ जोड़ी गयीं।

1 आचार्य आत्माराम , आचाराङ्ग-सूत्र।
2 आचार्य शीलाङ्क, टीका (876 ई .) ।
3 Hermann Jacobi, Jaina Sutras I (1884) ।

2.2 निर्यूक्ति-प्रदत्त पर्याय

आयार, आचल, आगल, आगर, आसास, आयारिस, अङ्ग, ऐण्ण, आजयि, आमोख-ये शब्द ग्रन्थ के विविध गुण प्रकट करते हैं, जो इसके बहुविध प्रभाव को दर्शाते हैं।

3. दार्शनिक दृष्टि

सापेक्षतावाद (अनेकान्त) की मौलिक झलक[1], आत्मा-कर्म का सम्बन्ध तथा अहिंसा-केन्द्रित दृष्टिकोण-

"नेव से अन्तो, नेव से दूरे।"- यह न तो बिल्कुल निकट है, न ही अत्यन्त दूर; प्रत्येक स्थिति सापेक्ष है।

यह आत्मिक सत्य न तो सर्वथा निकट समझ में आता है, न ही अप्राप्य रूप से दूर है - वह साधक की दृष्टि और साधना-स्तर के अनुसार सापेक्ष रूप से अनुभूत होता है। जिस व्यक्ति का चित्त विमुक्त और जाग्रत है, उसके लिये मुक्ति-मार्ग यहीं उपस्थित है; परन्तु जो मोह-बंधन में आबद्ध है, उसके लिये वही सत्य अगम्य प्रतीत होता है। इस प्रकार यह सूक्ति सापेक्षवाद (अनेकान्त) का सूक्ष्म उद्घोष करती है, जो अनुभूति के आधार पर निकट-दूर की अनुभूति को परिभाषित करती है।)

"जे एकं जाणइ से सव्वं जाणइ; जे सव्वं जाणइ से एकं जाणइ।" - "जो एक (आत्मा) को जान लेता है, वह सब कुछ जान लेता है"- आत्म-साक्षात्कार को ब्रह्माण्डीय बोध का प्रवेश-द्वार मानता है।

"पुरिस, तु मेव तु मं मैत्तं।"- तू स्वयं स्वयं का मित्र है। (सुख-दुःख तेरे ही द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। "तुंम चेव तं सल्लमहतु।"- "काटेदार शूल तू स्वयं ही निकाल सकता है।"

"सव्वे जीवा जीवे इच्छा, को न हि पावे मरणम्।"- सभी जीव जीना चाहते हैं; कोई भी मरना नहीं चाहता।

"नो निहेज्ज वीरियम्" - "अपनी ऊर्जा को दबाओ मत" - महावीर का उद्बोधन कि श्रम, तप एवं ध्यान से आन्तरिक शक्ति प्रकट करो।

---

1 W. Schubring, Die Worte Mahāvīras।

ये सूत्र आत्मनिर्भर मुक्ति-मार्ग पर बल देते हैं। शैली काव्यमय, परिहासपूर्ण तथा गूढ़ है-पुनरुक्ति, विरोधाभास, एवं अपूर्ण वाक्य रचना साधक को गहन ध्यान में प्रवृत्त करती है। ये कथन अहिंसा-केन्द्रित दृष्टिकोण, आत्मा-कर्म सम्बन्ध तथा सापेक्ष-वास्तविकता (स्यात्-वाद) को स्पष्ट करते हैं। इन सूत्रों की आधुनिक प्रासंगिकता-स्व-सशक्तिकरण, पर्यावरण-जागरूकता एवं ग्रोथ-माइण्डसेट पर विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

इतिहासकार पॉल डुण्डास के अनुसार, "यह ग्रन्थ अंत:करण के भीतर चल रहे सतत संवाद को बौद्धिक संरचना देता है[1]-जहाँ प्रत्येक चिंतन-रेखा को विपरीत संभावना के साथ पढ़ा जाता है"। इसी कारण आधुनिक 'डायलॉगिक थिंकिंग' और 'डिज़ाइन-थिंकिंग' में आचाराङ्ग के काउंटर-पॉइंट सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। डिजिटल युग में, जब इको-चैम्बर्स और एल्गोरिदमिक बबल्स वैचारिक विभाजन बढ़ा रहे हैं, आचाराङ्ग का अनेकान्त हमें 'कॉग्निटिव विविधता' अपनाने का आह्वान करता है।

4. प्रथम श्रुतस्कन्ध - अध्याय-वार समग्र विवेचन

प्रथम श्रुतस्कन्ध को परम्परा में "नव ब्रह्मचर्य" कहा गया है, क्योंकि इसके नौ अध्याय नवविध ब्रह्मचर्य-अनुशासन के रूप में मुनि-जीवन की पूर्ण राह दिखाते हैं। यहाँ सूत्र-रचना काव्यात्मक, बिंबात्मक और स्थान-स्थान पर प्रश्नोत्तर शैली में है, जिससे साधक एक ओर प्रत्यक्ष प्रेरणा लेता है, दूसरी ओर स्थूल-सूक्ष्म व्याख्या के लिये गुरु-परम्परा की ओर उन्मुख होता है। नीचे प्रत्येक अध्याय का सारांश विस्तृत गद्य-रूप में दिया गया है ताकि तालिका-रूप प्रस्तुत सामग्री की गहराई पाठक तक भावपूर्ण शैली में पहुँच सके।

अध्याय 1: शास्त्र परिज्ञा - आत्मसाक्षात्कार से प्रारम्भ होने वाली अहिंसा-यात्रा

यह अध्याय स्वयं को और विश्व को पहचानने का घोष है। महावीर बताते हैं कि हर जीव भीतर से शुद्ध, ज्ञान-स्वरूप आत्मा है, किन्तु कर्म-आवरण के कारण संसार-भ्रमण करता है। छः प्रकार के "जीव-रूप"-स्थावर, त्रस, संयोजी, असंयोजी, संज्ञी और असंज्ञी की व्याख्या कर यह स्पष्ट किया गया है कि अहिंसा का पालन करना केवल बाहरी हिंसा से बचना नहीं, बल्कि विचार-शैली, उपयोगितावाद और

1 Paul Dundas, The Jains (2nd ed.)।

भाषा तक में करुणा की पूर्ति है। "आत्मवादी-लोकवादी समन्वय" से तात्पर्य है कि आत्मा के कल्याण की साधना और लोककल्याण के दायित्व एक दूसरे के प्रतिकूल नहीं, बल्कि पूरक हैं।

अध्यायण 2 : लोक विजय - कषाय-दलन ही विश्व-विजय

'लोक जितने का' वास्तविक अर्थ बाहर की राजकीय या सैनिक विजय नहीं, बल्कि भीतर बैठे राग-द्वेष, मद -मोह और तृष्णा पर नियंत्रण पाना है। जब लोभ-दमन सिद्ध हो जाता है और जागरूकता (अप्रमाद) हर क्षण का आलोक बन जाती है, तब साधक को "विश्वविजयी" घोषित किया जाता है, क्योंकि उसका चित्त अब किसी बाहरी परिस्थिति से पराधीन नहीं रहता।

अध्याय 3: शीतोष्णीय- समता का तापमान

यहाँ महावीर आह्वान करते हैं कि प्रतिकूल (शीत) और अनुकूल (उष्ण) परिस्थितियों में समभाव रखो। 'समता' महज़ भावनात्मक तटस्थता नहीं, बल्कि सूक्ष्म-मानसिक प्रशिक्षण है-जब राग-द्वेष की लहरियाँ उठती हैं, साधक स्वपर्यवेक्षक होकर उन्हें देखता, स्वीकारता और विलीन कर देता है। इससे 'शीत' में कठोरता और 'उष्ण' में प्रमाद दोनों से मुक्ति मिलती है।

अध्याय 4: सम्यक्त्व - चार-स्तम्भी मुक्ति-मार्ग

इस अध्याय में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक् तप को मोक्ष-मार्ग के चार अचल स्तम्भ बताया गया है। दृढ़ श्रद्धा के बिना ज्ञान अधूरा है; ज्ञान के बिना चरित्र दिशाहीन है; और तप के बिना चरित्र निष्क्रिय है। अहिंसा को इस चौखट का आधार-स्तर कहा गया है, जिससे शेष तीन हमेशा पुष्ट रहेंगे।

अध्याय 5: लोक सार - जगत् की क्षरणशीलता और वैराग्य

"लोक का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान...।" इस प्रसिद्ध सूत्र से आरम्भ होकर अध्याय बताता है कि संसार क्षर-स्वरूप है-अपनी प्रकृति से अनित्य। इस क्षर-स्वभाव का बोध वैराग्य जगाता है, किंतु वैराग्य पलायन नहीं, बल्कि सक्रिय धर्म-साधना का अंदरूनी परिवर्तक है।

अध्याय 6: धूत - जीवन-मैल की धुलाई

'धूत' शब्द का मूल अर्थ है धुलाई। पाँच प्रकार के धूत-निजक, कर्म, शरीर, गौरव और उपसर्ग-संसारी आसक्तियों की पांच परतों को इंगित करते हैं। जब

साधक इन परतों से मैल हटा देता है, तो कर्म-क्षय प्रक्रिया तीव्र हो जाती है और आत्मा की स्वाभाविक प्रकाशता उदित होती है।

अध्याय 7: महापरिज्ञा (लुप्त) - अतीन्द्रिय ज्ञान का संकेत

यद्यपि मूल पाठ अनुपलब्ध है, परन्तु परवर्ती टीका-परम्परा में महापरिज्ञा का उल्लेख 'अतिशय ज्ञान और कषाय-क्षय के चरम' के रूप में आता है। इससे अनुमान होता है कि यह अध्याय मुनि-जीवन की उन चरम अव स्थाओं का निर्देशक रहा होगा, जहाँ साधक प्रत्यक्ष परोक्ष सभी रूपों का सम्यक् बोध प्राप्त करता है।

अध्याय 8: विमोक्ष - निवृत्ति से मुक्ति की ओर

विमोक्ष शब्द द्रव्य (शरीर, उपकरण) और भाव (राग, द्वेष) दोनों विमुक्तियों की चर्चा करता है। क्रमिक विरक्ति की प्रक्रिया में साधक सल्लेखना-विधि सीखता है, जहाँ जीवन के अंत में भी जागरूक-समता बनी रहती है, और मृत्यु 'उत्सर्ग-संस्कार' बन जाती है, न कि क्लेश।

अध्याय 9: उपाधान-श्रुत – साधन और साध्यता

अंतिम अध्याय इस सत्य की याद दिलाता है कि बाह्य साधनों (उपाधि) का मूल्य तभी है जब वे भीतरी तप-ज्ञान को पुष्ट करें। यदि साधन स्वयं लक्ष्य बन जाएँ तो वे बन्धन हैं; परन्तु जब वे आत्म-प्रकटन के सहायक बनते हैं, तभी बाह्य से भीतरी साधना का रूपांतरण सफल होता है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध का संक्षिप्त अवलोकन

द्वितीय श्रुतस्कन्ध, जिसे आचाराङ्ग (आचार -प्रकृति) कहा गया है, प्रथम स्कन्ध की अवधारणाओं को व्यवस्थित नियम-संहतियों में ढालता है। संयम का विस्तार यहाँ दीक्षित और अदीक्षित दोनों समुदायों के लिये व्यवहारिक दिशा-निर्माता है। उपाधि-त्याग को, विशेषकर वस्तु-संग्रह और मान-सम्मान के परित्याग को, क्रमबद्ध नेम-विधानों से जोड़कर समझाया गया है। संल्लेखना की मार्मिक प्रक्रिया-हितोपदेश, परिवार-संवाद, शरीर-संयम, ध्यानाभ्यास-इसी श्रुतस्कन्ध की महत्त्वपूर्ण देन है, जो जैन परम्परा को विशिष्ट बनाती है।

समकालीन प्रबंधन-शास्त्र में इस द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सिद्धांत 'लीन मैनेजमेंट' और 'जस्ट-इन-टाइम इन्वेंटरी' से भी प्रतिध्वनित होते हैं-जहाँ अनावश्यक संग्रह को बोझ समझा जाता है और 'फ्लो स्टेट' बनाये रखने के लिए न्यूनतम संसाधन-उपयोग को प्रोत्साहन मिलता है।

इस प्रकार प्रथम-द्वितीय दोनों श्रुतस्कन्ध मिलकर जैन भिक्षु-जगत् की चारित्रिक रचनाशीलता का जीवंत पाठ उपलब्ध कराते हैं-एक ओर दार्शनिक गहराई, दूसरी ओर अनुशासन-प्रधान व्यवहारिक आयाम।

5. पंचाचार : एक समग्र आचार-संहिता

पंचाचार-ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार-आचाराङ्ग का व्यवहारिक पक्ष है। प्रत्येक आचार का सार इस प्रकार है:

5.1 ज्ञानाचार (Jnānāchār)

स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग-तीनों आन्तरिक स्वाधीनता के सोपान हैं, जो आत्मा की शुद्धता एवं निर्वाण-मार्ग प्रशस्त करते हैं।

दूरस्थ शिक्षा, ऑनलाइन ओपन-कोर्सेस और 'लाइफ़-लॉन्ग लर्निंग' की अवधारणा आज ज्ञानाचार के आधुनिक रूप हैं। जैन ग्रन्थालयों में प्रचलित 'प्रतिक्रमण-पत्रिका' पद्धति की भाँति, 21वीं-शती के लर्निंग-मैनेजमेंट-सिस्टम (LMS) भी प्रगति-ट्रैकिंग, आत्म-मूल्यांकन और अनुवर्ती अभ्यास पर बल देते हैं।

वर्तमान कॉर्पोरेट परिदृश्य में ज्ञानाचार को Continuing Professional Development की संकल्पना से जोड़ा जा सकता है, जहाँ कर्मचारी नियमित 'ज्ञान-सत्र' लेकर अनियमित मानसिक जड़ता से मुक्ति पाते हैं। मनोवैज्ञानिक शोध इंगित करते हैं कि दैनिक स्वाध्याय 15-मिनट भी कॉग्निटिव फ्लेक्सिबिलिटी को 20 % तक बढ़ाता है, जिससे समस्या-समाधान क्षमता सुदृढ़ होती है1।

5.2 दर्शनाचार (Darshanāchār)

आठ पक्ष-निस्संकिया, निक्कंखिया, निरविचिकित्सा, अमूढ़-दृष्टि, उपवूढ़, स्थिर-करण, वात्सल्य, प्रभावना-आस्था को अविचल बनाते हैं।

इनके पाँच-स्तरीय शिक्षण क्रम-वाचन, प्रच्छन, परावर्तन, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा-श्रद्धा को ज्ञान-दृढ़ता में रूपान्तरित करते हैं।

5.3 चारित्राचार (Chāritrāchār)

पाँच समितियाँ (ईर्या, भाषा, एषणादि, आदान-निक्षेप, उत्सर्ग) एवं तीन गुप्तियाँ (मन:, वचन, काय) संयम का सूक्ष्म तंत्र रचती हैं; सामयिक इसकी चरम साधना है, जो समता-भाव के स्थायित्व का अभ्यास कराती है।

---

1 गोपालदास पटेल, "आचाराङ्ग पर प्रकाश", 2015।

5.4 तपाचार (Tapāchār)

बारह तप -छः बाह्य (अनशन, उणोदरी, वृत्ति-संकल्प, रस-त्याग, काय-क्लेश, संलिनता) तथा छः आभ्यंतर (प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग)-कर्म-निर्जरा को तीव्र करते हैं।

5.5 वीर्याचार (Vīryāchār)

"अनिगूहीया-बल-वीरियो"- अपरिमित उत्साह से आध्यात्मिक आचार का पालन करना ही वीर्याचार है; यह जैन साधना का गतिशील आयाम है। मिथ्यादृष्टि, अविरति, कषाय, प्रमाद एवं योग: इन पाँच बाधाओं पर प्रबल पुरुषार्थ से विजय प्राप्त करना वीर्याचार की मूल प्रेरणा है।

6. समकालीन प्रासंगिकता

जिन सिद्धान्तों को आचाराङ्ग प्रतिपादित करता है, वे केवल आत्मिक उन्नति तक सीमित नहीं, बल्कि इक्कीसवीं-शती की वैश्विक चुनौतियों के लिये व्यावहारिक चश्मा प्रदान करते हैं। निम्न पाँच आयामों में इसकी शिक्षा प्रत्यक्ष दिखाई देती है—

6.1 अहिंसा : वैश्विक नैतिक प्रतिमान

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मानवाधिकार घोषणापत्र (1948)[1] और दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह आन्दोलन ने अहिंसा की सार्वभौमिकता को उद्घोषित किया, परन्तु आचाराङ्ग इसे जैविक आधार देता है- "सव्वे जीवा जीवे इच्छा" की धारणा नीति-विज्ञान को प्राणिमात्र केन्द्रित बनाती है। संयुक्त राष्ट्र का Responsibility to Protect सिद्धान्त, जो नरसंहार-रोकथाम के लिये अन्तरराष्ट्रीय कार्रवाई को नैतिक आधार देता है, जैन अहिंसा की सामूहिक-कल्याण अवधारणा से अनुप्राणित है। वर्तमान 'रिवेंज कल्चर' और साइबर-बुलिंग-प्रवृत्ति में Non-Violent Communication पद्धति का उभरना भी आचाराङ्ग की अहिंसा-वाणी की आधुनिक परिणति है।

6.2 पर्यावरण संरक्षण : सूक्ष्म-जीव करुणा और टिकाऊ विकास

जलवायु परिवर्तन पर अंतर-सरकारी पैनल (IPCC) की 2023[2]- रिपोर्ट चेताती है कि पारिस्थितिक तन्त्र सूक्ष्म- आधार से ही असंतुलित हो रहा है। आचाराङ्ग के 'माहासयाणिका' शब्दावली में सूक्ष्म जीवों के प्रति दया का आग्रह,

1 साध्वी शुभ्रयशा, आचाराङ्ग-सूत्र: समकालीन विवेचन (2019)।
2 Intergovernmental Panel on Climate Change, AR6 Synthesis Report, 2023.

समकालीन बायो-सेंट्रिक वातावरण-नीति का बौद्धिक पूर्वगामी है। 'जीव दया टैक्स' जैसा विचार—जहाँ पशु-कृषि-उत्पाद पर अतिरिक्त उत्सर्जन-कर लगाया जाता है-वास्तविकता में जैन अपरिग्रह और अहिंसक आहार को नीतिगत रूप देता है।

6.3 मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य: ध्यान-समता का Mindfulness संस्करण

विश्व स्वास्थ्य संगठन के आँकड़े बताते हैं कि 2024[1] में अवसाद एवं चिन्ता विकारों के मामले 18% बढ़े। जैन ध्यान-समता अभ्यास-विशेषतः कायोत्सर्ग और प्रतिक्रमण-'Third Wave CBT' (Mindfulness-Based Cognitive Therapy) का प्राचीन समतुल्य हैं। विश्वविद्यालयों में चल रहे Jain Contemplative Lab प्रोजेक्टों के प्रारम्भिक शोध सांत्वना देते हैं कि आठ सप्ताह के 'समता-अनुप्रयोग' से स्ट्रेस-हार्मोन Cortisol औसतन 12 % घटता है और Heart Rate Variability 15 % सुधरती है, जो लचीलापन दर्शाती है।

6.4 पुरुषार्थ बनाम प्रारब्ध: कर्म-नियतिवाद की सीमाएँ

आधुनिक प्रेरक-साहित्य में 'Growth Mindset' (Dweck) का जोश और 'Grit' (Duckworth) का परिश्रम आदर्श बन चुका है। वीर्याचार इन्हीं सिद्धान्तों का आध्यात्मिक संस्करण है-कर्म-सिद्धान्त को स्थिर तथ्य मानते हुए भी यह घोषणा करता है कि पुरुषार्थ द्वारा कर्म-फल की दिशा बदली जा सकती है। इससे "सीखने योग्य आशावाद" (Learned Optimism) का दर्शन उभरता है, जो मनोरोग-चिकित्सा में Self-Efficacy का आधार है।

6.5 शिक्षा एवं लोक-नीति: अहिंसा और समत्व का धर्म-निरपेक्ष पाठ्यक्रम

नेशनल एजुकेशन पॉलिसी 2020 में 'Value Based Education' का प्रस्ताव, तथा यूनेस्को का 'Global Citizenship Education' मॉड्यूल-दोनों अहिंसा, सहिष्णुता एवं समता को मूलमंत्र बनाते हैं। जैन अपरिग्रह सिद्धान्त पर आधारित 'Ethical Consumption' कक्षा-गत परियोजनाएँ बच्चों में पर्यावरण-जागरूक उपभोग-आचरण विकसित करती हैं। लोक-नीति स्तर पर, केरल राज्य की 'Green Protocol' तथा भूटान के 'Gross National Happiness' इंडेक्स में जैन समत्व और अपरिग्रह की छाया स्पष्ट देखी जा सकती है।

1 World Health Organization, Global Mental-Health Data Sheet, 2024.

इन पाँच समकालीन अनुप्रयोगों से स्पष्ट है कि आचाराङ्ग सूत्र महज आध्यात्मिक-साहित्य नहीं, बल्कि वैश्विक नीतियों व मानव-जीवन के लिये एक व्यावहारिक मार्गदर्शिका है।

7. संक्षिप्त टीका-परम्परा

7.1 परम्परागत (श्वेताम्बर)

भद्रबाहु निर्यूक्ति (5वीं सदी)– सूत्रार्थगर्भित पद्यात्मक व्याख्या।

जिनदासगणि चूर्णि (7वीं-8 वीं सदी) – गूढ़ शब्दों का गद्य-निरूपण।

आचार्य शीलाङ्क टीका (876 ई.) – संस्कृत विस्तार से मानक ग्रन्थ।

मणिक्यशेखर सूरी दीपिका, पार्श्वचन्द्र सूरी बलवबोध आदि मध्यकालीन व्याख्याएँ।

आचार्य अमोलक ऋषि व आचार्य हिरा मुनि - 19वीं-20वीं सदी में हिन्दी अनुवाद।

आधुनिक युग में H. Jacobi तथा Dundas जैसे विद्वानों ने पाश्चात्य अकादमिक जगत् को इससे परिचित कराया।

शास्त्रीय व्याख्याओं की परम्परा के साथ-साथ इक्कीसवीं-शती में डिजिटल टीका-प्रवृत्ति भी तेज़ी से विकसित हुई है। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय तथा एलाइड डुक्युमेन्टेशन सेंटर, जर्मनी द्वारा चल रहा "Digital Āgama Critical Edition Project" आचाराङ्ग के नौ पाण्डुलिपीय संस्करणों का XML-आधारित तुलनात्मक संपादन कर रहा है। इस परियोजना ने A-Vue (Ancient-Verse Unicode Engine) नामक एक मुक्त-स्रोत टूल बनाया है, जिसकी सहायता से शोधार्थी समानान्तर पाठ देखकर टीका-सूत्र सम्बद्धता तुरन्त पहचान सकते हैं। परियोजना-टीम ने अब तक 14,000 से अधिक पाठ-विचरण भेदों (Variant Readings) का डेटाबेस निर्मित किया है, जो पारम्परिक भावार्थों के सूक्ष्म अंतर स्पष्ट करते हैं।

साथ ही Jain e-Library एवं Muktabodha Digital Archive जैसे पोर्टलों ने दुर्लभ टीकाओं के हाई-रेज़ोल्यूशन स्कैन उपलब्ध कराए, जिससे शोध करने के लिये देश-विदेश यात्रा पर निर्भरता कम हो गयी। नयी पीढ़ी के साधक-लेखक इन डिजिटल स्रोतों पर आधारित साधक-पाठ-गाइड तैयार कर रहे हैं, जिनमें

QR-कोड स्कैन करते ही सम्बद्ध टीका-पंक्ति और आधुनिक हिन्दी या अंग्रेज़ी सरलीकरण एक ही स्क्रीन पर दिखता है। इस प्रकार टीका-परम्परा अब केवल पांडित्य-कक्षाओं की निधि नहीं, बल्कि ऑनलाइन ओपन-कोर्सवेयर का हिस्सा बन कर वैश्विक श्रोतृगण तक पहुँच रही है, जिससे आचाराङ्ग-अध्ययन का लोकतंत्रीकरण सम्भव हुआ है।

7.2 परम्परागत (दिगम्बर)

हालाँकि दिगम्बर परम्परा वर्तमान पाठ नहीं मानती, पर मूलाचार, समयसार इत्यादि में समान संहिता-तत्त्व सुरक्षित हैं (आचार्य कुन्दकुन्द)

7.3 आधुनिकशोध

H. Jacobi – Jaina Sutras I (1884) से पश्चिमी जगत में परिचय[1]।

आचार्य विजयआनन्द 'आत्माराम' – जैकोबी के सहयोगी, आगम पुनरुद्धार।

आचार्य तुलसी / महाप्रज्ञ – आयरो, आचाराङ्ग भाष्यम् (हिन्दी-संस्कृत)।

मुनि मधुकर – समालोचनात्मक संस्कृत-हिन्दी सम्पादन (1980s)

मुनि अमर मुनि – सचित्र टीका (2010)।

साध्वी शुभ्रयशा – समकालीन दार्शनिक विवेचन।

8. निष्कर्ष

आचाराङ्ग सूत्र एवं पंचाचार-संहिता मिलकर जैन साधना की सैद्धान्तिक-व्यावहारिक पूर्णता की पराकाष्ठा रचते हैं। इस ग्रन्थ-युगल के माध्यम से जैन दार्शनिक चिंतन को तीन समवर्ती धारणाएँ एकसूत्र में पिरोती दिखाई देती हैं-अहिंसा, संयम और आत्म-जागरण। अहिंसा यहाँ केवल हिंसा-त्याग का नियम नहीं, अपितु समस्त जीव-जगत् के साथ दयालु, पर्यावरण-अनुकूल तथा उत्तरदायित्व-पूर्ण पारस्परिकता का व्यापक नैतिक घोष है। संयम, पंचाचार के बहुसूत्रीय अनुशासन द्वारा दैनिक जीवन में साकार होकर आत्म-उन्नयन का ठोस मार्ग प्रशस्त करता है, जबकि आत्म-जागरण आध्यात्मिक व्यवहार्यता के उस शिखर की ओर संकेत करता है जहाँ व्यक्ति अपराजेय शान्ति एवं समत्व का अनुभव करता है।

1 Hermann Jacobi, Jaina Sutras I (1884)।

विस्तृत विश्लेषण बताता है कि आचाराङ्ग की शिक्षाएँ आज के जटिल वैश्विक संदर्भ-जलवायु संकट, उपभोक्तावाद, मानसिक स्वास्थ्य-गत विक्षोभ और सामाजिक असमानता-के समाधान हेतु नये प्रतिमान प्रस्तुत करती हैं। सूक्ष्म-जीव करुणा आधारित पर्यावरण-नीति, अपरिग्रह-प्रेरित टिकाऊ अर्थव्यवस्था, तथा ध्यान-समता आधारित Mindfulness-थैरेपी इन शिक्षाओं की समकालीन व्याख्याएँ हैं।

सामाजिक स्तर पर ग्रन्थ का योगदान 'नैतिक पूँजी' (Moral Capital) के रूप में देखा जा सकता है, जो हिंसा-हीन संवाद, समता-मूलक विकास एवं सर्वोपकारी शासन-नीति को पोषित करता है। शिक्षा-नीति में, आचाराङ्ग-प्रज्ञा पाठ्यक्रमों को मूल-मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना में सहायक सिद्ध किया जा सकता है -विशेषतः Character Education, Environmental Ethics एवं Conflict-Resolution Modules में।

व्यक्तिगत साधना के स्तर पर, पंचाचार की क्रमिक साधनाएँ-स्वाध्याय, सम्यक् दृष्टि, समितियाँ-गुप्तियाँ, बाह्य-आभ्यंतर तप तथा पुरुषार्थ-आधुनिक मानव को 'आत्म-प्रबंधक' (Self-Manager) बनाती हैं। ये साधनाएँ मनोविज्ञान में Emotion Regulation, Behavioural Activation तथा Habit-Formation के सत्-आधारीय उपकरणों की भाँति कार्य करती हैं।

भविष्य-अनुसंधान की दृष्टि से ग्रन्थ में अनेक संभावनाएँ विद्यमान हैं- अर्ध-मागधी मूल पाठ का कंप्यूटरीकृत समांतर आलोचनात्मक संस्करण, पंचाचार के न्यूरो-साइकोलॉजिकल प्रभावों पर प्रयोगात्मक अध्ययन, तथा आचाराङ्ग-वाक्यों का अंतर-धार्मिक नैतिक विमर्श में तुलनात्मक प्रयोग। इन दिशाओं में कार्य आधुनिक अकादमिक जगत् को जैन साधना-परम्परा से समृद्ध करने के साथ-साथ वैश्विक नैतिक विमर्श को भी नई ऊँचाइयों पर पहुँचा सकता है।

अत: यह शोध-पत्र प्रतिपादित करता है कि आचाराङ्ग सूत्र केवल ऐतिहासिक मुनि-विधान ही नहीं, बल्कि सार्वभौमिक, कालातीत एवं व्यावहारिक 'आत्म-विकास-मानचित्र' है-जिसकी शिक्षा को अपनाकर गृहस्थ, समाज एवं राज्य-तीनों स्तरों पर स्थायी, समावेशी और अहिंसक उत्थान संभव है।

आचाराङ्ग सूत्र ने दो सहस्राब्दियों से जैन साधना को दिशा दी है। इसके अध्याय-वार पाठ आजभी आचार-शुद्धि, मानसिक संतुलन एवं करुणा-व्यवहार का प्रेरक स्रोत हैं। टीका-परम्परा की निरन्तरता इस जीवंत परम्परा का प्रमाण है। आत्म-निग्रह एवं अहिंसा के सिद्धान्त आधुनिक मानवता को भी नैतिक सन्तुलन और सार्वभौमिक सहअस्तित्व का पाथेय प्रदान करते हैं।

शोध छात्र
जैन विश्वभारती संस्थान (JVBI),
लाडनूँ
ई-मेल : ujjawal.daga@gmail.com

प्रो. श्याम किशोर सेठ सम्मान समारोह
एक रिपोर्ट

जगत तारन गर्ल्स डिग्री कॉलेज इलाहाबाद के दर्शन विभाग द्वारा 'विश्व दर्शन दिवस' दि. नवंबर 21, 2024 (यूनेस्को द्वारा निर्धारित) के अवसर पर वरिष्ठ दर्शनशास्त्री प्रो. श्याम किशोर सेठ (सेवा निवृत्त, दर्शन-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के सम्मानार्थ एक समारोह का आयोजन किया जो महाविद्यालय के स्वर्ण जयंती वर्ष के उत्सव का एक महत्वपूर्ण अंग था। इस अवसर पर महाविद्यालय की प्राचार्या प्रो. आशिमा घोष ने पुष्पगुच्छ, अंगवस्त्र एवं स्मृति चिह्न से प्रो. सेठ को सम्मानित किया और महाविद्यालय प्रांगण में उनका स्वागत किया। प्रो. नीलिमा मिश्र ने दर्शन के दैदीप्यमान सूर्य प्रो. सेठ के दर्शन-जगत में योगदान व उनके सहज, सरल, मृदुल व्यक्तित्व से सभी का परिचय कराया।

इस 'सम्मान समारोह' में इलाहाबाद में उपस्थित प्रो. सेठ के अनेकानेक शिष्यों को आंमत्रित किया गया था। प्रो. मानेंद्र कुमार सिंह, प्रो. गौरी चट्टोपाध्याय, प्रो. ऋषि कान्त पांडेय, डॉ. आशा लाल, प्रो. अनीता गोपेश, डॉ. शिवभानु सिंह, प्रो. संजय शुक्ल, डॉ. अल्पना अग्रवाल, डॉ. रमा रानी, प्रो. मंजरी शुक्ला, प्रो. तनूजा तिवारी, डॉ. अंजना पाठक, डॉ. उत्तम सिंह, डॉ. शैलेंद्र सिंह, डॉ. नीरज पांडेय, श्री रमेश श्रीवास्तव इत्यादि उनके शिष्य-शिष्याएं जो दर्शन के प्राध्यापक रहे हैं, या अभी भी सेवारत हैं व अन्य प्रियजनों ने पुष्पगुच्छ व मालाओं द्वारा अपने अप्रतिम ऋषितुल्य गुरु के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और भावुक संस्मरण सुनाए। महाविद्यालय के दर्शन विभाग के प्रवक्ता डॉ. अनुराग पाण्डेय ने प्रो. सेठ से मिलने को अपने जीवन का अभूतपूर्व अवसर बताया। महाविद्यालय के अनेक प्रवक्तागण इस समारोह में सम्मिलित हुए। प्रो. सेठ से मिलकर उन्होंने एक सच्चे संत दार्शनिक से मिलने का अनुभव पाया।

इस अवसर पर प्रो. सेठ ने अपने उद्बोधन में आज के समय में दर्शन की उपादेयता को रेखांकित किया और उसे विज्ञान से कमतर मानने की प्रवृत्ति को ग़लत बताया। उन्होंने बताया कि बिना दर्शन के जीवन पथभ्रमित हो जाता है फलत: व्यक्ति युद्ध, टकराव, असुरक्षा, एकाकीपन और जीवन के सच्चे लक्ष्य की कमी से ग्रस्त हो जाता है। दर्शन ही व्यक्ति को उसके वास्तविक सारभूत स्वरुप और सच्चे मार्ग की समझ देता है। उनके अनुसार, 'प्रेम का दर्शन' जीवन को अर्थ प्रदान करता है, उसे सभी प्रकार के भयों से मुक्त करता है और निजी स्वतंत्रता व सामाजिक संबंध, दोनों में सामंजस्य बनाकर आंतरिक शांति प्रदान करता है।

अंत में, महाविद्यालय के दर्शन विभाग की वरिष्ठ प्रवक्ता, प्रो. दीपशिखा बनर्जी ने प्रो. सेठ तथा सभी आमंत्रित अतिथियों के प्रति औपचारिक धन्यवाद ज्ञापन किया। इसी के साथ, प्रो. सेठ जैसे दर्शन के श्रेष्ठ प्राध्यापक व ज्ञाता का सम्मान समारोह संपन्न हुआ। 'विश्व दर्शन दिवस' पर इससे प्रभावशाली आयोजन संभव नहीं हो सकता था।